मनुष्य का धर्म

मूल लेखक
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक
रघुराज गुप्त एम० ए०
रिसर्च स्कालर, कलकत्ता विश्वविद्यालय

सुमित्रा प्रकाशक
बी, राजा कालीकृष्ण लेन
कलकत्ता-५

प्रकाशक :
भवदेव भट्टाचार्य, एम० ए०
संचालक : सुमित्रा प्रकाशक
४बी, राजा कालीकृष्ण लेन,
कलकत्ता-५

मूल्य—तीन रुपये
प्रथम प्रकाश मार्च १९५२

'मानुषेर धर्म' का यह हिन्दी अनवाद
अनुवादक की ओर से
प्रियबन्धु श्री वेदप्रकाश गुप्त को
सप्रीति समर्पित

भूमिका

मनुष्यकी एक दिशा है जहाँ विषय-बुद्धि लेकर वह अपनी सिद्धि खोजता है। वहींपर उसका व्यक्तिगत जीवन-यात्रा-निर्वाह, उसका ज्ञान, उसका कर्म, उसकी रचनाशक्ति एकान्त व्याप्त होती है। वहींपर वह जीव-रूपमें बचना चाहता है।

किन्तु, मनुष्यकी एक और दिशा है जोकि इस व्यक्तिगत वैषयिकताके बाहर है। वहाँ जीवन-यात्राका आदर्श जिसे क्षति कहते हैं वही लाभ है, जिसे मृत्यु कहतं ह वही अमरता है। वहाँ वर्त-मान कालके लिये वस्तु-संग्रह करनेसे अनिश्चित कालीन उद्देश्यके लिए आत्म-त्याग करनेका अधिक मूल्य है। वहाँ ज्ञान उपस्थित प्रयोजनकी सीमाको पार कर जाता है, कर्म स्वार्थकी प्रवृत्तिको अस्वी-कार करता है। वहाँ अपने स्वतन्त्र जीवनसे जो बड़ा जीवन है, वही जीवन मनुष्य बचाना चाहता है।

स्वार्थ जो हमें सब प्रयासकी ओर ठेलकर ले जाता है, उसकी मूल प्रेरणा मैं जीव प्रकृतिमें देखता हूँ; जो हमें त्यागकी ओर, तप-स्याकी ओर ले जाती है; उसीको मनुष्यत्व, मनुष्यका धर्म कहते हैं।

किस मनुष्यका धर्म? इससे किसका परिचय पाता हूँ? यह तो साधारण मनुष्यका धर्म नहीं है, यदि ऐसा होता तो इसके लिये साधना न करनी पड़ती।

हमारे अन्तरमें ऐसे कौन हैं, जोकि मानव हैं और साथ ही जो व्यक्तिगत मानवको अतिक्रमकर 'सदा जनानां हृदये सन्निष्टः'। वह सर्वजनीन और सर्वकालीन मानव हैं। उन्हींके आकर्षणसे मनु-ष्यके विचार, भाव, कर्ममें सर्वजनीनताका आविर्भाव होता है। महात्मा सहज ही सब मनुष्योंके अन्दर उसका अनुभव करते हैं, उसके प्रेममें सहज ही जीवन उत्सर्ग करते हैं। उसी मनुष्यकी उपलब्धिसे मनुष्य

अपनी जीव सीमाका अतिक्रमणकर मानव सीमामें उत्तीर्ण होता है। मनुष्यकी उपलब्धि सर्वत्र समान नहीं है और अनेक स्थानोंपर विकृत होनेके कारण ही सब मनुष्य आज तक मनुष्य नहीं हुए हैं। किन्तु, उनका आकर्षण नियत मनुष्यके अन्तरसे कार्य करता है, इसी कारण आत्म-प्रकाश करनेकी प्रत्याशा और प्रयासमें मनुष्य कहीं भी सीमाको स्वीकार नहीं करता। उसी मानव ही की मनुष्य नाना नामोंसे पूजा करता है, उसीको कहा है, 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा'। समस्त मानवकी एकताके भीतर अपनी विच्छिन्नताको पारकर वह उसे पायेगा, ऐसी आशाकर उसको उद्देश्यकर प्रार्थना ज्ञापन की है।

से देवः

सनो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।

वही मानव, वही देवता, य एकः, जो एक है, उसीकी बातकी मैंने इन भाषणोंमें आलोचना की है।

शान्तिनिकेतन
३१ जनवरी, १९३३

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादककी ओरसे

कविके नाते रवीन्द्रनाथ सर्वविदित हैं, सर्वमान्य हैं, सर्वप्रिय हैं। उनकी कविताओंका भोलापन, सौन्दर्य, स्वाभाविकता, गहराई, सौष्ठव, माधुर्य, ओज और कोमलता स्वतः ही हमारे हृदयपर अधिकार कर लेती है। किन्तु एक विचारकके नाते रवीन्द्रनाथको बहुत कम लोग जानते हैं। कविताका हमारे जीवनमें महत्वपूर्ण स्थान है। शायद उसका मुख्य कार्य हमें एक अद्भुत आनन्द—संसारके कोलाहल, झंझट-झमेलेसे कुछ क्षणोंके लिए एक आत्म-विस्मृति प्रदान करना है। जबकि विचार या दर्शनका मुख्य कार्य हमें जीवनके प्रधान प्रश्नोंका उत्तर प्रदान करना, मनुष्य जीवनके आदर्श और योजनाको प्रस्तुत करना तथा उसपर पहुँचनेके मार्गको प्रशस्त करना है।

युग-युगमें विभिन्न देशों, विभिन्न कालोंमें वहाँके कवियोंने अपनी रचनाओं द्वारा वहाँकी जनताको आह्लादित और अनुप्राणित किया है। पर उनमें से कितनोंने समग्र रूपसे जीवनके लक्ष्य और उसकी प्राप्तिकी दिशामें प्रयत्न किया है? यह रवीन्द्रनाथकी ही विशेषता है जिन्होंने मूलतः एक कवि होते हुए भी इस ओर अपनी दिव्य दृष्टि दौड़ाई, जीवनको समग्र रूपमें देखने और समझनेकी चेष्टा की और मनुष्य जीवनके ध्येयको हमारे सम्मुख रखा।

अपनी मृत्युके कुछ साल पूर्व उन्होंने अपने दृष्टिकोणको 'मानुषेर धर्म' शीर्षक अपने लेखोंमें व्यक्त किया। कुछ साल पहले इसी विषयको लेकर उन्होंने Religion of Man शीर्षकके अन्तर्गत आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालयमें विवेचना की थी। बंगलाके 'मानुषेर धर्म' और उक्त अंग्रेजी पुस्तक का आलोच्य विषय एक होते हुए भी लिपिमें यथेष्ट अन्तर है। पर 'मानुषेर धर्म' में उनके विचार अधिक विकसित हुए हैं। इसीलिए प्रस्तुत अनुवाद मूल बंगलासे किया गया है।

विचारोंकी गहराई और स्पष्टताकी दृष्टिसे मानुषेर धर्म रवीन्द्रनाथकी सबसे प्रौढ़ और ठोस रचना है। वास्तवमें मानुषेर धर्म आजके विभ्रान्त मनुष्यके लिए कविका अंतिम संदेश, अंतिम उपदेश, अमूल्य विरासत है।

मानुषेर धर्म प्रकाशित हुए आज उन्नीस वर्ष हो गये हैं, पर खेदका विषय है कि हिन्दीके विद्वानोंने कविकी इस महत्वपूर्ण रचनाकी ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। राष्ट्रभाषामें इसका न होना मुझे बहुत अखरा। मैंने अनुभव किया, यदि यह पुस्तक हिन्दीमें प्राप्य हो तो बहुसंख्यक जनताके पास पहुँच सकेगी। इसी भावनासे मैंने इसके अनुवादका दायित्व अपने ऊपर लिया।

व्यक्तिगत भावसे यह कहना अनुचित न होगा कि मेरे लिए रवीन्द्रनाथ उन पाँच-छः महापुरुषोंमें से एक हैं, जिन्होंने मेरे जीवन, मेरे विचारों, मेरी आकांक्षाओंको विशेष रूपसे प्रभावित किया है। मैं उनका चिर ऋणी हूँ और उनका दुभाषिया बननेमें अपना परम सौभाग्य समझता हूँ।

यौवनके प्रथम प्रभातमें रवीन्द्रनाथसे मेरा परिचय हुआ था; उनके प्रबन्धोंके हिन्दी अनुवादों द्वारा, तत्पश्चात् बंगला भाषाका ज्ञान न होनेके कारण मैंने उनकी प्रमुख रचनाओंको अंग्रेज़ीमें पढ़ा। किन्तु अनुवादोंसे तृप्ति नहीं हुई। ढाई साल पहले हठात् गवेषणा कार्यके लिए मुझे कलकत्ता आना पड़ा और रवीन्द्रनाथको मूलमें पढ़नेकी पुरानी आकांक्षा जाग उठी। यहाँपर बंगला सीखनेकी समस्त सुविधाएँ प्राप्त थीं। मेरे नूतन बंगाली बन्धुओंने मुझे इसमें सहोत्साह सहायता प्रदान की और यह उन्हींका श्रेय है कि मैं रवीन्द्रनाथकी रचनाका अनुवाद करनेका साहस कर सका।

इस अनुवादको तैयार करनेमें मुझे श्री नचिकेता मुखोपाध्याय तथा श्री चिन्मय दत्तने अनेक स्थलोंको समझनेमें बहुत मदद की और श्री भवदेव भट्टाचार्यने इसके प्रकाशनमें विशेष उत्साह दिखाया। इन सब बन्धुओंका मैं बहुत आभारी हूँ।

मेरा विश्वास है कि रवीन्द्रनाथकी इस रचनाका हिन्दीमें समुचित आदर होगा और हिन्दी पाठक इससे अपने जीवनमें नई स्फूर्ति और नई प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

गम्भीर पाठकोंकी सुविधाके लिए मैंने शुरूमें रवीन्द्रनाथके जीवन दर्शनपर एक संक्षिप्त टिप्पणी दे दी है। आशा है वह कविके विचारोंको समझनेमें कुछ सहायक सिद्ध होगी।

२८ मार्च, १९५२,
२८, स्ट्रैण्ड रोड, कलकत्ता।

रघुराज गुप्त

रवीन्द्र-दर्शन पर एक दृष्टि

मानवीय चेतना समस्त दर्शनकी जिज्ञासाकी प्रारम्भ सीमा है। मानव-जीवनके विरोध सत्यकी खोजको उत्तेजित करते हैं। मनुष्य एक परिमेय-अपरिमेय प्राणी है। प्रकृति और स्वभाव, पंचभूत और प्राण, पशु और देवताका मिश्रण है। वह पृथ्वीका पुत्र और स्वर्गका उत्तराधिकारी है। "अपने प्राणके एक छोरपर मैं पत्थरों और संचयमें मौजूद हूँ .... किन्तु दूसरे छोरपर मैं सबसे पृथक हूँ।"

प्राकृतिक घटनाओंकी कड़ीमें मनुष्य आवश्यकता या प्रयोजनके नियमका बन्दी है, पर एक अध्यात्म साम्राज्यका सदस्य होनेके नाते वह मुक्त है। यही विरोध है जिसे हम विज्ञान, कला और नैतिकताके बीच देखते हैं, जो कि समाधान चाहता है। व्यक्ति पूर्ण सत्य, पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण आनन्द, पूर्ण कल्याणकी आकांक्षा करता है। किन्तु परिमेय जगत्में वह उसके पास ही पहुँच सकता है, पूर्णतया पा नहीं सकता। हम आदर्शको धुंधला ही देखते हैं।

उस पूर्ण सत्य, पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण कल्याणको हम कैसे समझ सकते और अनुभव कर सकते हैं? मनुष्य अपने जड़ संस्कारों अथवा बुद्धिसे उन्हें समझनेका प्रयत्न करता है। बुद्धि विश्व कविताको भंगकर उसमें "तालके नियम, उसके संकोच और प्रसारका माप, गति और उपयोग, उसके रूप और गुणके विकासको खोजती है।" निःसन्देह मनकी यह वास्तविक सफलतायें हैं। किन्तु रवीन्द्रनाथ कहते हैं कि हम यहाँपर ही नहीं रुक सकते। हमारा चिन्तन यहींपर विश्राम नहीं ले सकता। हम अभी भी विपरीतोंके हाथोंमें हैं। बुद्धि विपरीतोंके संघर्षमें आनन्द लेती है। "बुद्धिका जगत् एक रेलवे स्टेशनके समान है, किन्तु स्टेशनका प्लेटफार्म हमारा घर नहीं है।" बुद्धिका जगत्, उसके अच्छे-बुरे, आत्म-अनात्म, सुन्दर-असुन्दरका भेद वास्तविक सत्ताके रास्तेमें एक मंजिल है।

बौद्धिक आत्मदर्शनमें भेदकी स्पष्ट कठोर रेखायें हैं। वह विरोधको अपरिहार्य बना देता है और चिन्तन प्रणाली विरोधोंसे पूर्ण हो जाती है। किन्तु यदि हम इसका छेदन करें तो हम देखेंगे बुद्धिकी कठोर रेखायें तरल है और वह आगे जाकर आश्चर्यजनक सम्पूर्णमें मिल जाती है।

नैतिक दिशामें आदर्श, आकांक्षाओं और वास्तविक तथ्योंके बीच हम एक विपुल व्यवधान देखते हैं। अन्तर्हित अपरिमेय, जो कि आत्माको आदर्शकी ओर प्रेरित करता है; निम्न परिमेय जो पूर्ण विकासवादकी विरासत है, दोनोंके बीच निरन्तर द्वन्द चल रहा है। जो एकका लाभ है वह दूसरेकी हानि है।

उच्च और निम्नके बीच एक खींचतान है। दोनों तत्वोंने सन्तुलन नहीं पाया है। श्रेष्ठ प्राण हमें एक नैतिक आदेश प्रदान करता है, किन्तु हमारा निम्न प्राण उच्च प्राणको चुनौती देता है, इन्द्रिय सुखकी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। आज पाश्चात्य देश परिमेयके संचयकी विपुलतासे मदान्ध हैं, दूसरी ओर पूर्वका मानव जीव-रक्षाके सामान्य साधनोंसे भी वंचित है।

पर हमें प्राय: प्राकृतिक शक्तियाँ नैतिक शक्तियोंके सामने प्रबल दीखती हैं। इस संकटमें परिमेय व्यक्ति पूछता है : क्या नैतिक आदर्श स्वप्न है, क्या मैं मूर्ख हूँ जो उसके लिए प्रकृतिकी विपुल बाधाओंसे लड़ता हूँ? क्या मेरी विजयकी आशा मेरे उद्योगकी विफलता पूर्व निश्चित है? क्या भले-बुरेके बीचका युद्ध किसी उच्च प्राणी द्वारा निरीक्षित है, जिसपर मैं भरोसा कर सकता हूँ? अथवा यह बड़ा जोखिम है जिसका कुछ भी परिणाम हो सकता है? जब तक कोई निश्चित बात मालूम नहीं होती परिमेय प्राण निराशामें अपने हाथ मलने लगता है और चीख उठता है : मैं बचनेके लिए क्या करूँ? मैं अभागा हूँ, मुझे कौन मृत्युसे बचायगा? परिमेय जीवनके विरोध स्पष्टत: प्रमाणित करते हैं कि परिमेय व्यक्ति संसारमें अन्तिम सत्य नहीं है, किन्तु वह अपूर्ण है जो सहायता चाहता है।

रवीन्द्रनाथके जीवनका आदर्श व्यक्तिगत वैषयिकताके बाहर है। "वहाँ वर्तमान कालके लिए वस्तु-संग्रह करनेसे अनिश्चित कालके उद्देश्यके लिए त्याग करनेका अधिक मूल्य है।" इस निस्वार्थकी ओर बढ़नेको ही रवीन्द्रनाथने मनुष्यका सच्चा स्वभाव, सच्चा धर्म कहा है। समस्त मनुष्योंके बीच एकात्मता अनुभव करना ही जीवनका लक्ष्य है। उनके शब्दोंमें यही भगवानकी उपलब्धि है। इस तरह हम देखते हैं, रवीन्द्रनाथके धर्म, उनके भगवान, उसे प्राप्त करनेकी प्रणालीमें, प्रचलित धर्म, उसके भगवान उसके भक्तोंसे मौलिक भेद है। रवीन्द्रनाथका धर्म पाप-पुण्य, नफे-नुकसान, स्वर्ग-नरकके प्रलोभन अथवा भयसे मुक्त है। उनके भागवान किसी मन्दिरकी चाहरदीवारीमें किसी व्यक्ति विशेषकी सम्पत्ति नहीं है। वह जन-जनके मनमें प्रतिष्ठित हैं। उनको उन्हींके अन्दर अनुभव किया जा सकता है। यह अनुभूति अपरिमित प्रेम द्वारा ही संभव है। बिना किसी जाति, धर्म, राष्ट्र, वर्ग, वर्णभेदके समस्त मानवमात्रसे प्रेमकर ही उसे पाया जा सकता है। उनके अनुसार—

"समस्त मानव संसारमें जब तक दुःख है, अभाव है, अपमान है, तब तक कोई एक भी मनुष्य निष्कृति नहीं पा सकता। अन्धकारमें एक प्रदीपके ज़रासे छिद्र करनेसे रात्रिका क्षय नहीं होता, समस्त अन्धकारके अवसरणसे ही रात्रिका अवसान होता है।"

"व्यक्तिगत शक्तिसे स्वयं कोई जितना मुक्त हो रहा है, उसकी वह मुक्ति निरर्थक है, जब तक वह उसे सबोंको नहीं दे सकता।"

"हमारे देशमें ऐसी आत्मावमाननाकी बात प्रायः सुनी जाती है कि सोहंहतत्व सबोंके लिए नहीं केवल उन्हींके लिए है जो श्रेष्ठ जन्मा हैं.... हमारे एक आदमीका अगौरव समस्त मनुष्योंके गौरवको क्षुन्न करेगा।"

रवीन्द्रनाथ बुद्धदेवके शब्दोंमें कहते हैं, "माँ जिस भाँति अपनी आयु क्षय कर भी अपने एकमात्र पुत्रकी रक्षा करती है उसी भाँति समस्त प्राणियोंके प्रति मनमें अपरिमाण दया भाव जन्माओ।"

"भूमा आहार-विहार, आचार-विचार, भोग-नैवेद्य और मंत्र-तंत्रमें नहीं है। भूमा, विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध प्रेम, विशुद्ध कर्ममें है।"

उनके अनुसार स्वार्थपरता ही अधर्म है, प्रेम ही धर्म है। इस एकात्मता, जिसकी बात रवीन्द्रनाथने कही है, का रहस्य हम मानव प्रेममें पाते हैं। जन्मसे ही माता-पिताके प्रेममें हमें इसकी प्रथम अनुभूति होती है। यह प्रेम वस्तु ही दिव्य है। सामान्य मनुष्योंके जीवनमें भी हम इसकी झलक देखते हैं, किन्तु संकीर्ण दायरेमें। जिस भाँति एक प्रेमी अपनी प्रेमिकाके सुख-दुःखको अपना बना लेता है, उसके लिए अपने प्राण तक न्योछावर कर सकता है, उसी भाँति जिस दिन निकृष्टतम, सुदूर-तम मानवमात्रके दुःखको हम अपना बना लें और उसके दूर करनेमें अपने प्राणों तक का उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत हों, उसी दिन हम धार्मिक कहलानेके अधिकारी होंगे। इस तरह हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ संसारके प्रमुख मानववादी हैं। उनका धर्म मानववादकी ही सुन्दर व्याख्या है। और आजके मानववादी नास्तिक भी उसे सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं। रवीन्द्रनाथके धर्ममें मानवीय तत्व ही प्रधान है, जबकि जो धर्म हम आज चारों ओर देखते हैं, वह उस मानवतत्वको ही समूल नष्ट कर चुका है। यही रवीन्द्रनाथके धर्म और प्रचलित धर्मोंमें मुख्य अन्तर है।

रवीन्द्रनाथ अपने भगवानकी प्राप्तिके लिए इन्द्रिय सुखकी भर्त्सना नहीं करते, संसारसे भागकर जंगलमें जानेका उपदेश नहीं देते। उनके अनुसार हम इन्द्रियजगत्के विरोधों, झंझटोंसे पलायनकर अपने आदर्शको नहीं पा सकते। वास्तवमें हमें प्रकृति और समाजके भीतरसे उसे पाना होगा। कविने गाया है—

"वैराग्यसाधने मुक्ति से आमार नय ।।
असंख्य बन्धन-माझे महानन्दमय
लभिवो मुक्तिर स्वाद। एइ वसुधार
मृत्तिकार पात्रखानि भरि बारम्बार

तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
समस्त संस्कार मोर क्षय वर्तिकाय
तोमार मन्दिर माझे ।।

इन्द्रियेर द्वार
रुद्ध करि योगासन, से नहे आमार।
जे-किछु आनन्द आछे दृश्ये गन्धे गाने
तोमार आनन्द रबे तोर माझखाने ।।
मोह मोर मुक्ति रूप उठबे ज्वलिया,
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया ।।"

रवीन्द्रनाथका हृदय समाजमें विद्यमान अन्याय, अत्याचार, असमानता, ऊँच-नीच, घृणा, अन्धविश्वास, संकीर्णतासे बुरी तरह आहत है ; उसके विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। उनके अनुसार धर्मात्माका लक्ष्य एकान्तवास अथवा मुक्ति नहीं है। वरन् समाजके सदस्यकी हैसियतसे मनुष्यकी अपरिमेय असीम संभावनाओंको अनुभव करना तथा मानवजातिकी सेवामें अपने आपको सम्पूर्णत: समर्पित कर देना है।

रवीन्द्रनाथके दर्शनका मुख्य स्रोत उपनिषद हैं। वह उन्हींसे प्रेरणा पाते हैं। रवीन्द्रनाथका जीवन दर्शन भारतके प्राचीन सार्वभौम ज्ञानकी ही वर्तमान जगत्की भूमिकामें एक पुनरावृत्ति है। प्राचीन विश्वजनीन भारतकी आत्मा उनमें प्रतिविम्बित हुई है। उनका आदर्शवाद भारतके अतीतका सच्चा मानसपुत्र है।

शंकरके कठोर दर्शन और उसके निषेधात्मक त्यागवाद, मायावाद तथा बुद्धके निश्क्रिय तापसी आचार शास्त्रके बीच रवीन्द्रनाथका दर्शन एक तृतीय जीवन्त शक्ति है। जिसमें व्यक्ति और समाज, कर्म और ज्ञान, भाव और भक्ति, भोग और त्यागका सुन्दर समन्वय है।

रवीन्द्रनाथने अपनी कल्पना शक्तिसे भारतके प्राचीन मरणासन्न दर्शनमें नई जान डाल दी है और उसे रहने योग्य बना दिया है। उनकी इस युगको यह ही सबसे अमूल्य देन है।

मनुष्य का धर्म

१
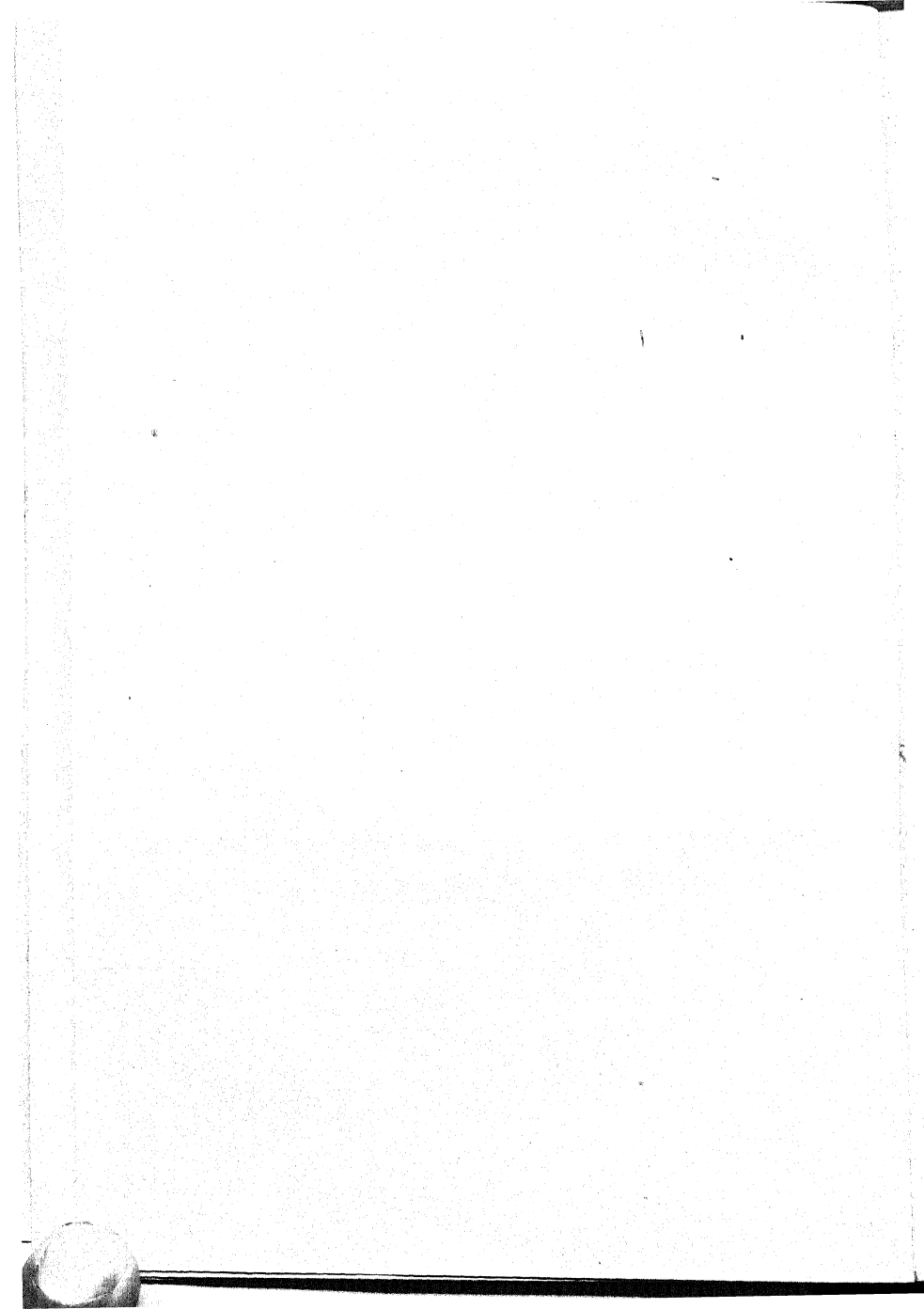
बाहरकी दिशामें निरन्तर वह चला, उसके भीतर उसका अपना अर्थ न था। घरपर आ पहुँचा, वहाँ अर्थ पाया गया, भीतरकी लीला आरम्भ हुई। मनुष्यमें सृष्टि व्यापार आ पहुँचा, कर्मविधिका परिवर्तन घटा, अन्तरकी ओर उसकी धारा बही। अभिव्यक्ति हुई थी प्रधानत: प्राणियोंकी देहको लेकर, मनुष्यमें आकर उस प्रक्रियाकी समस्त झोंक मनकी ओर पड़ी। पहलेसे एक विराट पार्थक्य देखा गया। देह-देहमें जीव स्वतन्त्र है; पृथक भावसे अपनी देह रक्षामें प्रवृत्त है, उसीको लेकर प्रबल प्रतियोगिता है। मन मनमें वह अपना मेल पाती है एवं मेल चाहती है। मेल न पानेसे वह अकृतार्थ है। सहयोगमें उसकी सफलता है। वह समझ सकता है, बहुतोंके बीच वह एक है; जानता है, विश्वमानवमन उसके मनकी जानकारीकी जाँच करता है, प्रमाणित करता है, तभी उसका मूल्य है। देखता है, ज्ञान, कर्म, भावमें जितना ही वह सबोंके साथ युक्त होता है, उतना ही वह सत्य होता है। योगकी यह पूर्णता लेकर ही मनुष्यकी सभ्यता है। इसीलिये मनुष्यका वही प्रकाश श्रेष्ठ है जो कि एकान्त व्यक्तिगत मनका नहीं है, जिसे समस्त कालोंके समस्त मनुष्योंके मन स्वीकार कर सकते हैं। बुद्धिकी बर्बरता उसीको कहते हैं जो ऐसे मत ऐसे कर्मकी सृष्टि करती है, जिससे वृहत्‌कालमें सर्वजनीन मन स्वयं सहमत नहीं हो पाता। इसी सर्वजनीन मनकी उत्तरोत्तर विशुद्धकर उपलब्धि करनेमें ही मनुष्यकी अभिव्यक्तिका उत्कर्ष है। मनुष्य अपनी उन्नतिके साथ-साथ व्यक्तिसीमाको पारकर वृहत् मनुष्य हो उठता है, उसकी समस्त श्रेष्ठ साधना इसी वृहत् मनुष्यकी साधना है। यही वृहत् मनुष्य अन्तरका मनुष्य है। बाहर नाना देशोंकी, नाना समाजोंकी नाना जातियाँ हैं, किन्तु अन्तरमें केवल एक मानव है।

इतिहासमें देखा जाता है, मनुष्यकी आत्मोपलब्धि स्वयं ही बाहरसे अन्तरकी दिशामें गई है ; जो अन्तरकी ओर है, उसीकी विश्वजनीनता है ; जहाँ वह वस्तुओंके बाड़ेको पारकर विश्वमानस लोकमें—जिस लोकमें उसकी वाणी, उसकी श्री, उसकी मुक्ति है, प्रवेश करता है। सफलता लाभके लिए वह मन्त्रतन्त्र क्रियाकर्म लेकर वाह्य परीक्षामें प्रवृत्त हुआ था ; बादमें सार्थकता लाभके लिये एक दिन वह बोला, तपस्या बाह्य अनुष्ठानमें नहीं, सत्य ही तपस्या है, गीताकी भाषामें घोषणा की, द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञान-यज्ञ ही श्रेय है ; ईसाकी वाणीमें सुना, बाह्य विधिनिषेधमें पवित्रता नहीं, पवित्रता चित्तकी निर्मलतामें है। उस समय मानवके रुद्ध मनमें विश्वमानव चित्तका उद्बोधन हुआ। यही उसका अन्तरकी सत्ताका बोध दैहिक सत्ताकी भेदसीमाको छोड़कर देश-कालमें सब मनुष्योंके भीतर एक्यताकी ओर प्रसारित है। इसी बोधकी बाकी बात है यह, जो मनुष्य अपनी आत्माके अन्दर दूसरोंकी आत्माको और दूसरोंकी आत्माके अन्दर अपनी आत्माको जानता है, वही सत्यको जानता है।

मनुष्यके भीतर दो भाव हैं, एक उसका जीवभाव और एक विश्वभाव। जीव अपनी उपस्थितिको जकड़कर जीवित है, जीव आशु-प्रयोजन केन्द्रकी प्रदक्षिणा करके चलता है। मनुष्यके भीतर उस जीवको जो सत्ता पार कर गई है, वह आदर्शको लेकर जीवित है। यह आदर्श अन्नकी भाँति नहीं है, वस्त्रकी भाँति नहीं है। यह आदर्श एक आन्तरिक आह्वान, एक निगूढ़ निर्देश है। किस दिशामें निर्देश ? जिस ओर वह विच्छिन्न नहीं, जिस ओर उसकी पूर्णता है, जिस ओर व्यक्तिगत सीमाको वह छोड़ चलता है, जिस ओर है वह विश्वमानव। ऋगवेदने उसी विश्वमानवकी बात कही है।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि—

उसका एक चतुर्थांश है जीवगत, बाकी वृहत् अंश है ऊर्ध्व अमृतरूप।

मनुष्य जिस ओर उस क्षुद्र अंशगत अपनी उपस्थितिके प्रत्यक्षको

अतिक्रम करता है, वही सत्य है, उसी ओर है वह मृत्युहीन, उसी ओर उसकी तपस्या श्रेष्ठका आविष्कार करती है। वह दिशा उसके अन्तरमें है, जहाँसे चिरकालके समस्त चिन्तनको वह चिन्तित करता है, सबोंकी इच्छाको वह सफल करता है, सबोंके आनन्दको रूपदान करता है। जिस परिमाणमें उसकी गति इससे विपरीत दिशामें है, बाहरकी ओर है, देशकालगत संकीर्ण पार्थक्यकी ओर है, मानव-सत्यसे उसी परिमाणमें वह भ्रष्ट है, सभ्यताके अभिमानके बावजूद भी वह उसी परिमाणमें बर्बर है।

मानव-देहमें कई कोटि जीवकोष हैं; उनमें से प्रत्येकका स्वतन्त्र जन्म और स्वतन्त्र मरण है। अनुवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे जाना गया है, उसमें से हरएक चारों ओर खाली है। एक ओर यह जीव-कोष अपने-अपने पृथक जीवनमें जीवित हैं, और एक ओर उनके बीच एक गभीर निर्देश है, प्रेरणा है, एक ऐक्यत्व है, वह है अगोचर पदार्थ; वह प्रेरणा समस्त देहकी ओर है, वही एक्य समस्त देहमें व्याप्त है। हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं, उस समग्र देहकी उपलब्धि असंख्य जीवकोषोंके लिये अगम्य है, अतः उस देहका परमरहस्यमय आह्वान उनमें से प्रत्येकपर उनके आत्मनिवेदन का दावा करता है। जहाँ वह प्रत्येक अपनी ही स्वतन्त्र सीमामें वर्तमान हैं वहाँ उनके बीच कुछ भी रहस्य नहीं है। किन्तु जहाँ वह अपनी जीवसीमाको अतिक्रमकर समस्त देहके जीवनमें सत्य हैं वहीं वह आश्चर्यजनक हैं, वहाँ वह अपने स्वतन्त्र जन्म, मृत्युसे बद्ध नहीं हैं। वहीं उनकी सार्थकता है।

सुना जाता है कि प्रत्येक सात वर्षके बाद मनुष्यकी देहमें इन जीवकोषोंका परिवर्तन घटता है। वह विदा ले लेते हैं, अर्थात् उनकी पृथक सत्ता नहीं रहती। किन्तु उनके बीच जो सत्ता समस्त देहकी आयुके अन्तर्गत है, अर्थात् जो उनकी स्वदैहिक नहीं है, विश्वदैहिक है, वही सत्ता समस्त जीवन प्रवाहमें रह जाती है। देहमें कभी-कभी कर्कट रोग, अर्थात् कैन्सर हो जाता है, वह कैन्सर एकान्ततः

स्वतन्त्र कहा जा सकता है, उसमें देहात्मबोध नहीं है। समग्र देहके वह प्रतिकूल है। देहके लिए इसे ही अशुभ कहा जाता है।

मनुष्य देहके जीवकोषोंमें यदि आत्मभाव होता तो एक ओर वह क्षुद्रभावसे अपनेको स्वतन्त्र जानते, पुनः वृहत्‌भावसे अपनेको ही समस्त देह जानते ; किन्तु वह जानते अनुभवसे, कल्पनासे ; समस्तको प्रत्यक्ष और सम्पूर्णतः जानना उनके लिये सम्भव न होता। क्यों नहीं ? यह देह केवल वर्तमान में ही अधिष्ठित है, सो बात नहीं है, इस देहमें रहा है उसका अतीत, प्रतीक्षा करता है उसका भविष्य। और भी एक प्रत्यक्षातीत पदार्थ रहा है जो कि सर्वदेह-व्यापी कल्याण है, जिसे स्वास्थ्य कहते हैं, जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसे छोड़ प्रत्येक जीवकोष जीवन-रक्षाकी गभीरतर चेष्टामें प्रयत्न-शील है, वह चेष्टा रोगकी अवस्थामें समस्त देहके शत्रुहननमें अपनी आत्महानि भी करती है, देश-प्रेमी जिस भाँति देशके लिये प्राण दे देते हैं। इस चेष्टाके रहस्यका अनुसरण करके ही समझा जा सकता है। इन क्षुद्र देहोंका चरम लक्ष्य, अर्थात्‌ परम धर्म, ऐसी कुछ चीजका आश्रय लेता है जिसको मैं कहूँगा उनकी विश्वदेह।

मनुष्य भी अपने अन्तरकी गभीरतर चेष्टाके प्रति लक्ष्यकर अनुभव करता है कि वह केवल व्यक्तिगत मनुष्य नहीं है, वह विश्व-गत मनुष्यका एकात्म है। वही विराट मानव 'अविभक्तंच भूतेषू विभक्तमिव च स्थितम्'। उसी विश्वमानवकी प्रेरणासे व्यक्तिगत मनुष्य ऐसे समस्त कार्योंमें प्रवृत्त होता है जो कि उसकी भौतिक सीमाके अतिक्रमणकी दिशामें है। जिसे वह कहता है अच्छा, कहता है सुन्दर, कहता है श्रेष्ठ ; केवल समाज रक्षाके ख्यालसे ही नहीं, अपनी आत्माकी परिपूर्ण परितृप्तिके ख्यालसे।

अंडेके भीतर जो पंछीका बच्चा है, उसके अंगोंमें मैं पंखोंकी सूचना पाता हूँ। अंडेमें-बँधे जीवनमें उन पंखोंका कुछ अर्थ नहीं है। वहाँ है पंखोंका अविचलित प्रतिवाद। यह अपरिणत पंखोंका संकेत

जतला देता है, अंडेके बाहर सत्यकी जो पूर्णता आज भी उसके लिए अप्रत्यक्ष है, उसी मुक्त सत्य संचरणमें ही पंछीकी सार्थकता है। इसी तरह मनुष्यकी चित्तवृत्तिका जो औत्सुक्य मनुष्यको पूर्ण सत्यकी साक्षी देता है, वहींपर मैं उसकी व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यसे मुक्ति अनुभव करता हूँ। वहींपर वह विश्वाभिमुखी है।

हम कल्पना करें कि जीव मानो जीवनयात्राकी एक रेलगाड़ीमें जन्मता, जीवित रहता और मरता है। यह गाड़ी संकीर्ण लक्ष्यपथमें बँधे रास्तेपर चलती है। गाड़ीकी सीमाके बीच ही नीचेकी ओर झुककर उसकी आहार-बिहारकी खोज चल रही है। इसके बीच अनेक बाधा-विपत्ति हैं, उन्हें ही लेकर दिन कटता है। मनुष्यकी भाँति सिर ऊपर उठाकर खड़ा नहीं हो सकता। ऊपरकी खिड़की तक उसकी दृष्टि नहीं पहुँचती, उसके मनकी गति प्राणधारणसे ऊपर नहीं है।

मनुष्य उठकर खड़ा हुआ। सामने खिड़की दिखाई दी। जान पाया कि गाड़ीके भीतर ही सब-कुछ बद्ध नहीं है। उसके बाहर है, दिगन्तपर दिगन्त। जीवनके आशुलक्ष्यपथसे उत्तीर्ण होकर भी जो बाकी है, उसका आभास पाया जाता है, सीमा दिखाई नहीं देती। जो ज़रा-सा आलोक गाड़ीके प्रयोजनके लिए यथोपयुक्त है, बाहर उसका ही विस्तार अबाध, अजस्र है। वही आलोक उसे क्यों बुलाता है? इस प्रयोजनातीत बाहरके प्रति उदासीन रहनेमें क्या हानि थी? दिन तो कट जाता, जिस तरह हज़ारों लाखों प्राणियोंका कट जाता है। किन्तु, मनुष्य अस्थिर हो उठा। बोला, उसे मुक्ति पानी होगी, वहींपर जहाँ उसका कोई प्रयोजन नहीं है, जिसका परिचय आज भी उसके पास अपूर्ण है। प्राणशक्तिकी अतिनिर्दिष्ट साम्राज्यप्राचीर लांघकर वह अपना स्वराज्य जय करने निकला। इस जययात्राके पथमें उसकी सहज-प्रवृत्ति उसका पक्ष नहीं लेती, इस पथमें उसे आराम नहीं, उसे विश्राम नहीं, शत-शत यात्री प्राण देकर इस पथको केवल प्रशस्त कर गये हैं, उन्मुक्त कर गये हैं।

देहकी दृष्टिसे मनुष्यपर विचार करके देखें। वह उठकर खड़ा हुआ। सिर्फ यह कहनेसे नहीं चलेगा कि खड़ा नहीं होगा तो क्या करेगा। खड़ा होना सहज नहीं है। पंछीकी देहका छन्द है द्विपदी। मनुष्यकी देह चतुष्पद जीवके प्रशस्त छन्दमें बनी है। चार पावोंके ऊपर लम्बा हो देहके वज़नको आगे-पीछे विभक्त कर देहको एक साथ वहन और संचालन करना उसके लिए सहज होता। किन्तु, मनुष्यने अपनी देहके स्वभावको नहीं मानना चाहा, इसीलिए यह असुविधा है, इसमें ही वह राज़ी है। चलमान दीर्घदेहकी भाररक्षाकी साधना उसने इन्हीं दो पावोंके ऊपर की। वह सहजसाध्य नहीं, बच्चोंके प्रथम चलनेके अभ्यासको देखकर ही यह समझा जा सकता है। ढ़लती उम्रमें बूढ़ेको लाठीके ऊपर भार देना होता है, यह भी एक प्रमाण है। यह भी देखा जाता है, चार पावोंके जन्तु जितनी आसानीसे भार वहन कर सकते हैं, मनुष्य वह नहीं कर पाता—इसीलिए दूसरेके ऊपर अपना बोझ डालनेके नाना कौशलका मनुष्य अभ्यस्त है। यही सुविधा पानेके कारण ही जितना कर सका भारकी सृष्टि की। उसे परिमित करनेकी चेष्टा नहीं। मनुष्यकी यह चाल सरल नहीं है। इसका दृष्टान्त प्राय: ही पाया जाता है। धक्का खाकर मनुष्यकी अंगहानि और गम्भीरताकी हानि की जो आशंका होती है, जन्तुओंको वह नहीं है। केवल यही नहीं, डाक्टरोंसे सुना जाता है कि मनुष्यकी उत्ततभंगी लेनेके कारण ही उसकी आदिम अवतत देह के अनेक यन्त्रोंको रोग-दु:ख भुगतने होते हैं। तभी भी मनुष्य चुनौती दे उठ खड़ा हुआ।

नीचेकी ओर झुककर जन्तु खण्ड-खण्ड वस्तुको देख पाता है। उसके देखनेके साथ उसकी घ्राण भी उसका साथ देती है। आँखका देखना अपेक्षाकृत अनासक्त है, ज्ञानके राज्यमें उसका प्रभाव अधिक है। घ्राणकी अनुभूति देहवृत्तिकी संकीर्ण सीमामें है। देखने और सूँघनेसे जन्तु वस्तुका जो परिचय पाते हैं, वह परिचय विशेष रूपसे आशुप्रयोजनका होता है। ऊपर सिर उठाकर मनुष्यने केवल वस्तुको

नहीं देखा, देखा दृश्यको, अर्थात् विचित्र वस्तुओंके ऐक्यको। एक अखण्ड विस्तारके केन्द्रस्थलमें देखा निजको। इसीको मुक्त-दृष्टि कहते हैं। खड़े हुए मनुष्यके लिए निकटसे दूरकी वस्तुका दाम अधिक है। अज्ञात अभावनीयकी ओर उसका मन प्रवृत्त हुआ है। इसी दृष्टिके साथ अन्तरकी कल्पनादृष्टिने योग दिया है। केवल दृष्टि ही नहीं साथ-ही-साथ दो हाथोंको भी मुक्ति मिली है। पावोंके कामसे यदि हाथ छुट्टी न पाते तो वह चतुर्थ वर्णकी भाँति अस्पृ-ष्यताकी मलिनताको लेकर देहके एकान्त अनुगत रहते। पुराण कहते हैं, ब्रह्माके पाँवोंसे शूद्रोंका और हाथोंसे क्षत्रियोंका जन्म हुआ है।

मनुष्यकी देहमें शूद्रकी पदोन्नति हुई क्षात्रधर्ममें, उसे हाथका गौरव मिला, तब मनके साथ उसकी मैत्री हुई। मनुष्यकी कल्पना-वृत्ति हाथोंको ले बैठ गयी। देहके ज़रूरी कामोंको निपटाकर वह नाना प्रकारके बेकार कामोंमें लग गया। जीवनयात्राकी कर्म-व्यवस्थामें वह चौबीस घंटेका (whole-time) कर्मचारी नहीं रहा। वह अभावितकी परीक्षामें, अचिन्त्य पूर्वकी रचनामें—जिनमेंसे अनेक ही अनावश्यक हैं—लग गया। मनुष्यकी ऋजु मुक्त देह मिट्टीके पासकी पकड़ छूटते ही उसके मनको एक ऐसे विराट राज्यका परिचय मिला जोकि अन्नब्रह्मका नहीं, जिसको विज्ञानब्रह्म अथवा आनन्द-ब्रह्मका राज्य कह सकते हैं। इस राज्यमें मनुष्य जो काम करता है, हिसाबी लोग पूछ सकते हैं, "यह सब क्यों?" उसका एकमात्र उत्तर है, "मेरी मरज़ी।" उसके विज्ञान, उसके साहित्य, उसकी शिल्पकलाका यही एक उत्तर है, "मेरी मरज़ी।" उर्ध्वमस्तक मनुष्यका इतना बड़ा गर्व? जन्तुओंको भी यथेष्ट खेलनेका अवकाश है, किन्तु उनके जीवनमें खेल गौण है। इसे छोड़ उनका खेल भी प्रकृतिके अनुगत है। बिल्लीके बच्चेका खेल, झूठ-मूठ नकली चूहेको पकड़ना, कुत्तेके बच्चेका खेल, अपनी पूँछके साथ लड़ाई करनेका सगर्जन भान, इसी श्रेणीमें हैं। किन्तु, मनुष्यके जिस कामको लीला कहा जाता

है, अर्थात् जो उसकी किसी ज़रूरतके अमलमें नहीं आता, कहीं-कहीं पर वही मुख्य हो उठता है, छोड़ जाता है उसकी प्राणयात्राको। उसके द्वारा ही उसकी श्रेष्ठताका परिचय पाया जाता है। अवकाशकी भूमिकामें मनुष्य अपनी अमरावतीकी रचनामें व्यस्त है, वहींपर उसका आकाश कुसुमोंका कुंजवन है। इन सब कामोंमें वह इतने गौरवका बोध करता है कि बोये खेतकी वह अवज्ञा करता है। आधुनिक बंगला-भाषामें उसने उसे एक कुश्राव्य नाम दिया है कृष्टि; हलके साथ उसका कोई योग नहीं, एवं बैलको उसका वाहन कहना व्यंग करना होगा। कहना अनावश्यक है, दूरतम तारोंका मनुष्यके लिए न्यूनतम प्रयोजन है, उन्हीं तारोंकी जो आलोकरश्मि चार-पाँच हज़ार एवं उससे अधिक वर्षोंसे व्योमबिहारी और गृहत्यागी है, उसीकी दौड़ मापनेमें ही मनुष्यका दिन जाता है, उसकी रात कटती है। उसे छोड़ मनुष्य अकारण ही बातके साथ बातको गूँथ कविता भी लिखता है; और तो और, जो आधापेट खाकर कृषतनु हो गये हैं, वह भी वाह-वाह करते हैं। इसीसे अन्दाज़ करता हूँ, मनुष्यके अन्नका खेत प्रकृतिके इलाकेमें रह सकता है, देहके द्वारपर पियादेके तकादेपर उसे मालगुजारी भी देनी पड़ती है, किन्तु जहाँ मनुष्यका वासस्थान वह लाखिराज़ (कर-मुक्त) देवत्रभूमि है, वह स्थान प्रकृतिके इलाकेके बाहर है। वहाँ ज़ोर तलबका देना नहीं, वहाँ सबसे बड़ा दायित्व स्वाधीन दायित्व है, उसे मैं आदर्शका दायित्व मनुष्यत्वका दायित्व कहूँगा।

देहकी ओरसे मनुष्यने जिस भाँति उर्ध्वसिर हो खंडभूमिसे विश्वभूमिकी ओर अपनेको उठाया, उसके किसी जाने-सुने जैविक प्रयोजनसे, व्यक्तिगत अभिव्यक्तिसे उसे स्वातन्त्र्य दिया। ज्ञानके इस सम्मानमें मनुष्यको वैषयिक लाभ हो वा न हो, आनन्द लाभ अवश्य हुआ। यही विस्मयकी बात है। पेट न भरनेपर भी आनन्द क्यों होता है? क्योंकि विषयको बड़ा करके पानेमें आनन्द नहीं है, क्योंकि अपनेको ही बड़ा कर, सत्यकर आनन्द पाया जाता है। मानव-जीवनके

जो विभाग अहैतुक अनुरागके हैं, अर्थात् अपने बाहरके साथ अन्तरंग योगके हैं, उनका पुरस्कार अपने ही भीतर है। क्योंकि इस योगके प्रसारमें ही आत्माका सत्य है।

न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियोभवति
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

जीवलोकमें चैतन्यकी नीहारिका अस्पष्ट आलोकमें व्याप्त है। वही नीहारिका मनुष्यके बीच केन्द्रीभूत हो उज्ज्वल दीप्तिसे बोली, "अयमहं भोः—रे यह मैं।" उसी दिनसे मनुष्यके इतिहासमें, नाना भावोंमें, नाना रूपोंमें और नाना भाषाओंमें इस प्रश्नका उत्तर देना चलता रहा, "मैं कौन हूँ" ? ठीक उत्तरमें ही उसका आनन्द है, उसका गौरव है। जन्तुका उत्तर मिलता है उसकी दैहिक व्यवस्थाकी यथायोग्यतामें। सनातन गैंडेकी भाँति स्थूल व्यवहारमें गैंडा यदि कोई वाह्य बाधा नहीं पावे, तब तो अपनी सार्थक्यताके सम्बन्धमें उसे कोई संशय न रहे। किन्तु, मनुष्य किस भाँति मनुष्य हो, यही लेकर बर्बर दशासे सभ्य अवस्था तक उसकी चिन्ता और प्रयासका कोई अन्त नहीं है। उसने समझा कि वह सहज नहीं, उसके भीतर एक रहस्य है, इसी रहस्यके आवरणके उद्‌घाटित होनेपर वह अपने आपको पहचानेगा। शत-शत शताब्दीसे उसका प्रयास चल रहा है। कितने धर्मतन्त्रों, कितने अनुष्ठानोंकी प्रस्थापना हुई; सहज प्रवृत्तिका प्रतिवादकर अपनेको वह स्वीकार कराना चाहता है, बाहर वह जो है, भीतर-भीतर उससे कहीं बड़ा है। ऐसी किसी सत्ताके स्वरूपको वह मनमें ग्रहण करनेकी चेष्टा करता है, आदर्शरूपमें जो उससे भी बड़ी है, और उसके साथ चिरसम्बन्धयुक्त है। इस भाँति बड़ी भूमिकामें अपने सत्यको स्पष्टकर उपलब्धि करनेका उसका अहैतुक आग्रह है। जिसकी वह पूजा करता है, उसीके द्वारा वह प्रमाणित करता है, उसके मतानुसार क्या वह सत्य है, उसकी बुद्धि किसे पूजनीय कहती है, किसे पूर्णता कहकर जानती है। वहींपर अपने देवताके

प्रायः समस्त जातियोंके मनुष्योंके पुराणोंमें सतयुगकी कल्पना अतीत-कालमें ही देखी जाती है । वह सोचता है कि आदर्शकी उपलब्धि असम्पूर्ण है, किसी एक दूरकालमें वह परिपूर्ण, अखण्ड, विशुद्ध आकारमें विद्यमान थी । उसी पुराणके वृतान्तमें मनुष्यकी यह आकांक्षा प्रकाश पाती है कि अनादिमें जो प्रतिष्ठित है, असीममें वही प्रमाणित होकर रहेगा । जो गान पहले ही सम्पूर्ण रचित है, गानेके द्वारा ही वह क्रमशः प्रकाशमान होता है, यह भी उसी तरह है । मनुष्यका आदर्श एक कोटिमें समाप्त और एक कोटिमें उपलभ्यमान है । आजकल मनुष्य अतीतकालमें सतयुगको नहीं मानता, तब भी उसके समस्त प्रकारके श्रेयानुष्ठानके बीच अनागतकालमें सतयुगकी प्रत्याशा प्रच्छन्न रहती है । कोई व्यक्ति नास्तिक हो सकता है, किन्तु वह नास्तिक जिसे सत्य मानकर जानता है, दूरदेशमें, भावीकालमें, वह भी उसे सार्थक करनेके लिए प्राण दे सकता है, ऐसे दृष्टान्तोंका अभाव नहीं है । अगोचर भविष्यत्‌में ही अपनेको सत्यतर रूपमें अनुभव करनेके कारण ही अपने प्रत्यक्ष वर्तमानका विसर्जन करनेमें वह क्षति नहीं मानता । 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' पूर्ण पुरुषका अधिकांश अभी भी अव्यक्त है। उसीको व्यक्त करनेकी प्रत्याशा भविष्यत्‌की ओर निरन्तर चल रही है । पूर्णपुरुष आगन्तुक है । उसका रथ धावमान है, किन्तु वह अभी तक नहीं आ पहुँचा है । वरयात्री आ रहे हैं, युगके पश्चात् युग प्रतीक्षा कर रहे हैं, वरके बाजेकी आवाज दूरसे आ रही है । उसकी अगवानीके लिए दूत दुर्गम पथमें चले हैं। यह जो अनिश्चित आगामीकी दिशामें मनुष्यका इतना प्राणपण आग्रह है—यह जो अनिश्चितके बीच, अनागतके बीच उसका चिरनिश्चितका अक्लान्त सन्धान है—उसी संकटसंकुल पथपर मनुष्य बार-बार बाधा पाकर, व्यर्थ होकर भी यात्रा बन्द नहीं कर सका । इस अध्यवसायको पागलपन कहा जा सकता था, किन्तु मनुष्य उसीको कहता है महत्त्व । इस महत्त्वका आश्रय कहाँ है ? अलक्ष्य एक परिपूर्णताकी ओर मैं उसके

मनका आकर्षण देख पाता हूँ, जिस भाँति अन्धेरे घरमें लगे पेड़की शाखा-प्रशाखामें प्राचीरके दूसरी पार आलोककी दिशामें बढ़नेकी स्वाभाविक व्याकुलता है। आलोक जिस भाँति सत्य है, पूर्णका आकर्षण निरन्तर जहाँसे प्रेरित होता है, वह भी यदि उसी भाँति सत्य न होता, तब तो जीविकाके प्रयोजनके बाहर मनुष्य जो कुछ चिन्तन करता है, कर्म करता है, उसका कोई अर्थ ही नहीं रहता। उसी सत्यको क्षण-क्षणमें मैं अपने संकल्पमें, अपने ध्यानमें और अपने आदर्शमें स्पर्श करता हूँ। उसी अभावनीय पूर्णको मैं दुःखकी दीप्ति और मृत्युके गौरवमें देख पाता हूँ। वह हमारे ज्ञानका घर छुड़वाकर बड़े क्षेत्रमें मुक्ति दे गया है, नहीं तो मनुष्यके पास परमाणु तत्त्वसे पाक-शास्त्र अधिक आदर पाता। सीमाबद्ध सृष्टिको मनुष्य प्रत्यक्ष देखता है, उसका व्यवहार करता है, किन्तु उसका मन कहता है, इस समस्त-का ही सत्य सीमाके अतीतमें है। इस सीमासे यदि प्रश्न करूँ, उसका उत्तर पाता हूँ, नहीं इस सीमाके बीच ही है।

छान्दोग्य उपनिषदमें कहा गया है, क्षत्रिय राजा प्रवाहनके सामने दो ब्राह्मण तर्क कर रहे थे, सामगानके भीतर जो रहस्य है, उसकी प्रतिष्ठा कहाँ है?

दाल्भ्य बोले, "इसी पृथ्वीमें ही।" स्थूल प्रत्यक्ष ही समस्त रहस्यका चरम आश्रय है, बोध करता हूँ, दाल्भ्यका यही मत था।

प्रवाहन बोले, "तब तुम्हारा सत्य तो अन्तवान हुआ, सीमापर आकर जो ठहर गया।"

उससे क्षति क्या है? क्षति यही है कि सीमाके भीतर मनुष्यकी जिज्ञासा असमाप्त रह जाती है। किसी सीमाको ही यदि मनुष्य चरम कहकर मानता, तब तो मनुष्यका भौतिक विज्ञान भी बहुकाल पूर्व ही घाटपर लंगर फेंक यात्रा बन्द कर देता। एक दिन पंडितोंने कहा था, भौतिक विश्वके मूल उपादानस्वरूप आदिभूतोंको उन्होंने एकदम कोनेमें धकेल दिया था, एकके बाद एक आवरण खोलकर

कुछ इस तरह कोनेमें धकेला था जिसका आज विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कहनेसे क्या होगा? अन्तरमें प्रवाहन राजा विराजमान हैं, वह मनुष्यके सब प्रश्नोंको सीमासे दूरतर क्षेत्रमें वहनकर ले चले हैं। उन्होंने कहा—

अप्रतिष्ठितं वै किल ते साम, अन्तवद् वै किल ते साम।

आदिभूतकी वस्तुसीमामें जो प्रश्न आकर रुक गया था, वह सीमाके पार हो गया। आज मनुष्यकी चरम भौतिक उपलब्धि गणित चिह्न संकेत में पहुँची है, बोधगम्यतामें नहीं। एक दिन मनुष्यने आलोकके तत्त्वको बोधगम्यताके दूसरे पार ही स्थापित किया था। अद्भुत बात कही थी, 'ईथरकी तरंग' चीज़को ही आलोक रूपमें अनुभव करता हूँ। ईथर जिसका कि हमारे बोधकी भाषामें कोई किनारा नहीं पाया जाता। वह आलोक हमारी दृष्टिके क्षेत्रमें समस्त भौतिक चीज़ोंको प्रकाशितकर, ऐसा कुछ प्रकाश हुआ जो सम्पूर्णतः भौतिक धर्मसे अतीत है, केवल व्यवहारमात्रसे जाना जाता है कि उसमें नाना प्रकारकी तरंगें खेलती हैं। किन्तु, प्रवाहनकी गणना नहीं रुकती। खबर आती है, केवल तरंगधर्मी बोलनेसे आलोकके चरित्रका पूरा हिसाब नहीं मिलता, वह कणिकावर्षी भी है। यह सब स्वविरोधी बातें मनुष्यकी सहज बुद्धिकी सहज भाषाकी सीमाके बाहरकी बातें हैं। तब भी बोधातीतके गहरे जलमें मनुष्यको भय नहीं हुआ। पत्थरकी दीवाल तकको भी कह बैठा कि यह विद्युतकणोंका निरन्तर नृत्य है। उसने सन्देह नहीं किया शायद मैं कहीं पागल तो नहीं हो गया हूँ। उसने नहीं सोचा कि शायद प्रज्ञा, जिसको कि रीज़न कहते हैं, वह मानस-सर्कसका कलाबाजी-खिलवाड़ है, सब चीज़ोंको उलट देना ही जिसका काम है। पशु यदि विचारक होते तो मनुष्यको जन्म-पागल कहते। वस्तुतः मनुष्यका विज्ञान सब मनुष्योंको एक पागल जीव कहकर प्रमाणित करता है। कहता है कि वह जिसको अपने मनमें जिस भाँति जानता है वह एकदम ही तो नहीं है, सम्पूर्ण

उल्टा है। जन्तु अपने सम्बन्धमें इस तरहके लाईबलका प्रचार नहीं करते। उनके बोधमें जो जो-कुछ है, वह वही-कुछ है; अर्थात् उनके पास केवल तथ्य है, प्रतीयमानके प्रति उनकी अविचलित निष्ठा है। उनके जगतका आयतन केवल तलपृष्ठ लिये हुए है। उनकी समस्त दाय इसी एक मंजिलमें है। मानवजगत्के आयतनमें एक मोटाई दिखाई देती है। प्रत्यक्ष तथ्यकी उपेक्षाकर मनुष्यका काम नहीं चलता, पुनः सत्य बिना भी नहीं।

अन्यान्य जन्तुओंकी भाँति तथ्य मनुष्यका सम्बल है, किन्तु सत्य उसका ऐश्वर्य है। ऐश्वर्यका चरम लक्ष्य अभाव दूर करना नहीं, महिमा उपलब्धि कराना है। उसी ऐश्वर्य-अभिमानी मनुष्यने कहा है, 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। कहा है, अल्पमें सुख नहीं, वृहत्में ही सुख है।

यह नितान्त ही बेहिसाबी बात हुई। हिसाबी बुद्धिमें कहते हैं, जो चाहता हूँ और जो पाता हूँ, इन दोनोंका माप मिल जाना ही सुखकी बात है। अंग्रेजीमें एक चलती कहावत है, जो यथेष्ट है वही पेट-भर भोजनके समान है। शास्त्रमें भी कहा है, 'सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्'। तभी तो देखता हूँ, सन्तोषमें सुख नहीं, पुनः सन्तोषमें ही सुख है, यह दो उल्टी बातें सामने आकर खड़ी हुईं। उसका कारण मनुष्यकी सत्तामें द्वैध है। उसकी जो सत्ता जीव-सीमाके अन्दर है, वहाँ जो-कुछ आवश्यक है उसीमें ही उसका सुख है। किन्तु अन्दर ही अन्दर जीवमानव विश्वमानवमें प्रसारित है; उस ओर वह सुख नहीं चाहता, वह सुखसे अधिक चाहता है, वह भूमाको चाहता है। इसीलिए सभी जीवोंके बीच मनुष्य ही केवल अमिता-चारी है। उसे अमित पाना होगा, उसे अमित देना होगा, क्योंकि उसके भीतर अमितमानव है। वह अमितमानव सुखका कंगाल नहीं है, दुःख भीरू नहीं है। वह अमितमानव आरामके द्वार तोड़कर, मनुष्यको बाहरकर कठोर अध्यवसायकी ओर लिए जा रहा है।

हमारे भीतरका छोटा मनुष्य तो इसे लेकर विद्रूपकर बैठता है; कहता है, घरका खाकर बनके भैंसें हटाना। उपाय नहीं। विश्वका मनुष्य घरके मनुष्यको बनके भैंसोंको काबूमें रखनेके लिए भेज देता है, यहाँ तककि चाहे घरमें यथेष्ट अन्न भी न जुटे।

उपनिषदमें भगवानके सम्बन्धमें एक प्रश्नोत्तर है। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः'। वह भगवान कहाँ प्रतिष्ठित है? इस प्रश्नका उत्तर है, स्वे महिम्नि। अपनी महिमामें। वह महिमा ही उसका स्वभाव है। उसी स्वभावमें ही वह आनन्दित है।

मनुष्यका आनन्द महिमामें है। इसीलिए कहा गया है, भूमैव सुखं। किन्तु, जिस स्वभावमें उसकी महिमा है, उस स्वभावको वह पाता है विरोधके भीतरसे, परम सुखको पाता है परम दुःखमें। मनुष्यकी सहज अवस्था और स्वभावके बीच नित्य ही द्वन्द्व चलता है। इसीलिए धर्मके पथको, अर्थात् मनुष्यके परम स्वभावके पथको—'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'।

जन्तुकी अवस्था जैसी होती है, स्वभाव भी उसके अनुगत होता है। उसका जो भाग है, कामना भी उसके पीछे विना विद्रोहके चलती है। उसका जो पावना है, उससे ज्यादा उसका दावा नहीं। मनुष्य कह बैठा "मैं चाहता हूँ ऊपरी पावना।" बँधे हुए भागकी सीमा है, ऊपरी-पावनेकी सीमा नहीं। मनुष्यकी जीविका बँधे हुए भागसे चलती है, ऊपरी-पावनेसे प्रकाश पाती है, उसकी महिमा।

जीवधर्म-रक्षामें भी मनुष्यका निरन्तर एक द्वन्द्व है। वह है प्राणके साथ अप्राणका द्वन्द्व। अप्राण आदिम है, अप्राण विराट है। उसके पाससे रसद संग्रह करनी होती है प्राणको, माल-मसाला लेकर गढ़ना होता है देह यन्त्रको। वह अप्राण निष्ठुर महाजनकी भाँति, उधार देता है किन्तु खींचतानकर वापिस लेनेके लिए, प्राणको दिवालिया कर मिला देना चाहता है पंचभूतमें।

इस प्राणचेष्टामें मनुष्यका केवल अप्राणके साथ ही द्वन्द्व नहीं

है, वरन् परिमितके साथ अपरिमितका भी। जीनेकी दिशामें भी उसका ऊपरी-पावनेका दावा है। बड़ा बनकर जीना होगा, उसका अन्न ऐसा-वैसा नहीं है— उसका वसन, उसका वासस्थान केवल काम चलानेके लिए नहीं है,— बड़ेको प्रकाश करनेके लिए है। ऐसी किसी चीज़का प्रकाश जिसे वह मनुष्यका प्रकाश कहता है। जीवन-यात्रामें भी जिस प्रकाशमें न्यूनता आनेपर मनुष्य लज्जित होता है। उसी बढ़ती भागके प्रकाशको लेकर मनुष्यका जो दुसाध्य प्रयास है वह साधारण प्रयोजनको पूरा करनेके लिए नहीं है। मनुष्यके बीच जो बड़े हैं, आहार-बिहारमें उनका असम्मान न हो मनुष्यकी यही एक विषम भावना है।

ऋजु होकर चलनेमें प्रतिमुहूर्त ही मनुष्यको गुरुत्वाकर्षणके विरुद्ध मान बचाकर चलना होता है। पशुकी तरह चलनेमें यह नहीं करना होता। मनुष्यत्वको बचाकर चलनेकी ही उसकी नियत चेष्टा है, पद-पदपर नीचे पड़नेकी शंका है। इसी मनुष्यत्वको बचानेका द्वन्द्व मानव-धर्मके साथ पशुधर्मका द्वन्द्व है, अर्थात् आदर्शके साथ वास्तविकताका। मनुष्यके इतिहासमें यह पशु ही आदिम है। वह उसे तामसिकतामें, मूढ़ताकी दिशामें खींचता है। पशु कहता है, 'सहजधर्मके पथमें भोग करो।' जिनका मन मन्थर है, वह कहते हैं, 'जो है वही अच्छा है, जो हो गया वही श्रेष्ठ है', वह जन्तु धर्मके स्थावर बाड़ेके अन्दर हैं; वह मुक्त नहीं, वह स्वभावसे भ्रष्ट हैं। वह पूर्वसंचित ऐश्वर्यको विकृत करते हैं, नष्ट करते हैं।

मनुष्य एक ओर मृत्युके अधिकारमें है, और-एक ओर अमृतके; एक ओर वह व्यक्तिगत सीमामें है, और एक ओर विश्वगत विराटमें। इन दोनोंमें से किसीकी भी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चलता। मनुष्य स्वयं जानता है, तद्दूरे तद्वन्तिके च,—वह दूर भी है, निकट भी। उस दूरके मनुष्यका दावा निकट मनुष्यके सब कुछको छोड़ जाता है। इसी अप्रत्यक्षकी ओर मनुष्यकी कल्पनावृत्ति दौत्य करती है। विस्तर

मानकर पहचानो। उसी तरह मैं सुनता हूँ, तुम सुनते हो, अब सुनता हूँ, तब सुनता हूँ, इस प्रत्येक सुननेके बोधमें जो एकमात्र परम सुननेका सत्य विदित है, वही एक प्रतिबोधविदित सत्य है—श्रोत्रस्य श्रोत्रम्। उसके सम्बन्धमें उपनिषदने कहा, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि—हम जो-कुछ जानते हैं एवं नहीं जानते, वह सबसे ही स्वतन्त्र है। भौतिक विज्ञानमें भी जो गुहाहित है उसे हमारी प्रत्यक्ष अभिज्ञताके साथ केवल जो मिला नहीं सकता सो नहीं, कहना होगा यह उसके विपरीत है। भाषामें कहूँगा गुरुत्वाकर्षण शक्ति, किन्तु आकर्षण कहनेसे साधारणत: जो समझता हूँ, यह तो नहीं है, शक्ति कहनेसे जो समझता हूँ, वह भी नहीं है।

प्रकृतिकी गुहाहित शक्तिके आविष्कार और व्यवहारमें ही मनुष्यके बहरकी समृद्धि है; जो सत्य है उसकी आत्माकी समृद्धि भी गुहाहित है, उसे साधना कर ही पाना होगा। उसी साधनाको मनुष्य धर्म-साधना कहता है।

धर्म शब्दका अर्थ है स्वभाव। चेष्टाकर, साधनकर स्वभावको पाना, बात सुननेमें स्वविरोधी है, अर्थात् स्वभावको अतिक्रमकर स्वभावको पाना। ईसाई शास्त्रमें मनुष्यके स्वभावकी निन्दा की गई है, कहा है, उसके आदिसे ही पाप है, अबाध्यता है। भारतीय शास्त्र भी अपने स्वभावको पानेके लिए, स्वभावको अस्वीकार करनेको कहते हैं। मनुष्य सहज ही जो है, उसकी श्रद्धा नहीं करता। मनुष्य कह बैठा, उसके सहज स्वभावसे उसका साधनाका स्वभाव सत्य है। एक स्वभाव उसके निजको लेकर है, और एक स्वभाव उसकी भूमाको लेकर है।

कहा है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनाक्ति धीरः।
तयोः श्रेयआददानस्यं साधु हीयतेहर्थात् ष उ प्रेयोवृनीते ॥

मनुष्यका स्वभाव श्रेय भी है, प्रेय भी है। धीर व्यक्ति दोनोंको

पृथक करते हैं। जो श्रेयको ग्रहण करते हैं, वह साधु हैं, जो प्रेयको करते हैं, वह पुरुषार्थसे हीन होते हैं।

इस सब कथनको हम चिराभ्यस्त हितकथा कहकर गौण करते हैं, अर्थात् समझते हैं, लोक-व्यवहारके उपदेश रूपमें ही इसका मूल्य है। किन्तु समाज-व्यवहारकी ओर लक्ष्यकर यह श्लोक नहीं कहा गया है। इस श्लोकमें आत्माको सत्यकर जाननेके उपायकी आलोचना की गई है।

प्रवृत्तिकी प्रेरणासे हम जो इच्छा करते हैं, वही प्रेयकी इच्छा मनुष्यके स्वभावमें वर्त्तमान है, पुनः जो इच्छा करना उचित है, वह श्रेयकी इच्छा भी मनुष्यका स्वभाव है। श्रेयको ग्रहण करके एक कुछ होकर मनुष्य कुछ एक ऐसी चीज़ पाता है जो कि वह नहीं है उसी होनेको साधु होना कहते हैं। उसके द्वारा वह धनी नहीं होता, बली नहीं होता, समाजमें सम्मानित हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, यहाँ तक भी अपमानित होनेकी संभावना यथेष्ट है। साधु होना पदार्थ क्या है? प्रकृत्तिके राज्यमें उसका कोई किनारा नहीं है। श्रेय शब्द भी उसी भाँति है। अपरपक्षमें प्रेयको एकान्त रूपमें वरण करनेसे मनुष्य एक और कुछ होता है, उसे उपनिषदने कहा है अपने अर्थसे हीन होना। नागरिक शब्द कहनेसे यदि citizen न समझ libertine समझा जाय तब कहना होगा, नागरिक शब्द अपने सत्य अर्थसे हीन हो गया है। उसी भाँति एकान्तभावसे प्रेयका अवलम्बन करनेसे, मनुष्य कहनेसे जो समझा जाता है, वह सत्य हीन हो जाता है। अपने बीच सर्वकालीन विश्वभूमीन मनुष्यधर्मकी उपलब्धि ही साधुता है, उस महामानवकी उपलब्धि से विच्युत होना ही हीनता है। प्राकृतिक स्वभावके ऊपर यदि मनुष्यका आत्मिक स्वभाव न होता तब इस सब कथनका कोई मूल्य नहीं होता।

अंडेके भीतर ही पंछीका प्रथम जन्म है। उस समय वह अंडा ही उसका इदम् है। और कुछ वह नहीं जानता। तब भी उसके अन्दर बाहरके अजाने के बीच सार्थकताकी दिशामें उसकी एक प्रवर्तना

है। वही सार्थकता है—नेदं यदिदमुपासते। यदि खोलके अन्दर ही वह सौ साल जीवित रहता, तब उसे ही उसका महान विनाश कहा जाता।

मनुष्यकी साधना भी एक स्वभावसे स्वभावान्तरकी साधना है। जब उसकी जिज्ञासा व्यक्तिगत संस्कार छोड़ जायेगी, तभी विश्वगत ज्ञान और उसका विज्ञान प्रतिष्ठित होगा। जब व्यक्तिगत स्वार्थ और जड़प्रयागत अभ्यास उसका प्रयास काट देगा, तभी विश्वगत कर्म द्वारा वह होगा विश्वकर्मा। जब उसका प्रेम अहंकार और भोगासक्तिको उतीर्ण कर जायेगा, तभी विश्वगत आत्मीयतामें मनुष्य होगा महात्मा। मनुष्यके एक स्वभावमें आवरण है, दूसरे स्वभावमें मुक्ति है।

ज्योतिर्विद्ने देखा, कोई एक ग्रह अपने कक्षपथसे विचलित हो गया है। निःसन्देह मनसे वह बोला, अन्य किसी अगोचर ग्रहकी अदृश्य शक्तिने उसे खींचा है। देखा गया मनुष्यका मन भी अपने प्रकृतिनिर्दिष्ट प्राणधारणके कक्षपथपर यथावत आवृत्ति कर नहीं चल रहा है। अनिर्दिष्टकी ओर स्वभावके अतीतकी ओर वह झुक रहा है। उससे मनुष्यने देवलोककी कल्पना की। कहा, आदेश वहींका है, आकर्षण वहींसे है। उस देवलोकका देवता कौन है, उसे ही लेकर मनुष्य मनुष्यके बीच मारकाट चल रही है। जो भी हो, उसे देवता कहूँ और जो कुछ भी कहूँ, उसने मनुष्यको मनुष्यकी जीवसीमाके बीच किसी तरह भी स्थिर नहीं रहने दिया।

समुद्र चंचल हुआ। ज्वार-भाटेका उतार-चढ़ाव चल रहा है। चाँद न दिखाई देनेपर भी समुद्रके चांचल्यमें ही चाँदका आह्वान प्रमाणित होता है। बचनेकी चेष्टामें भी मनुष्य अनेक समय मरता है। जो क्षुदा उसके अन्तरमें निःसंशय है उसका लक्ष्य जो उसके बाहर भी सत्य है, यह बात सद्याजात शिशु भी स्वतः जानता है। मनुष्यका प्राणान्तिक उद्यम ऐसी किसी चीज़के लिए देखा गया जिसके

साथ बचनेके प्रयोजनका कोई योग नहीं है। मृत्युको छोड़कर जो प्राण है, वही उसको दुःसाहसके पथपर आगे ले जा रहा है। भौतिक प्राणके पथमें प्राणीकी निजकी रक्षा है, और इस पथमें आत्मवानकी आत्माकी रक्षा नहीं है, आत्माका प्रकाश है।

वैदिक भाषामें ईश्वरको आविः, प्रकाशस्वरूप कहा है। उसके सम्बन्धमें कहा है, यस्य नाम महद्यशः। उसका महद्यश ही उसका नाम है, अपनी महत् कीर्तिसे ही वह सत्य है। मनुष्यका स्वभाव ही वैसा है—आत्माका प्रकाश करना। बाहरसे प्राणी खाद्य वस्तु ग्रहण कर ही अपनी रक्षा करता है, बाहर अपनेको उत्सर्ग कर ही आत्मा अपना प्रकाश करती है। यहीं पर प्रकृत्तिको छोड़कर वह अपनी घोषणा करता है। यहाँ तक कि बर्बर देशका मनुष्य भी अपनेको प्रकाशित करनेकी चेष्टामें प्रकृतिका लंघन करना चाहता है। वह एक मोटी सलाईसे नाक छेदता है। रेतीसे दाँत घिस-घिसकर नोकीले करता है। शिशुकालमें तख़्तेसे दबा सिरकी खोपड़ीको विकृत करता है, विकटाकार वेश-भूषा बनाता है; इस सब उत्कट साज-सज्जामें उसने असह्य कष्ट माना है; कहना चाहा है, वह सहज ही जो है, उससे वह बड़ा है। वही उसका बड़ापन प्रकृतिके विपरीत है। जिस देवताको वह अपना आदर्श कहकर मानता है वह भी ऐसा ही अद्भुत है; उसकी महिमाका प्रधान परिचय यही है कि वह अप्राकृतिक है। प्रकृतिके हाथों पला है, तब भी प्रकृतिको नीचा दिखानेके लिए मनुष्यका मानो यह एक झगड़ालू भाव है। भारतवर्षमें भी देखता हूँ, कितने लोग, कोई उर्ध्व बाहु है, कोई कन्टक-शय्यापर सोता है, कोई अग्नि-कुण्डकी ओर नतशीर्ष है। वह जनाते हैं कि वह श्रेष्ठ हैं, वह साधु हैं, क्योंकि वह अस्वाभाविक हैं। आधुनिक पाश्चात्य देशमें भी कितने ही लोग कष्ट साधनमें गौरव मानते हैं। उस कहते हैं 'रेकर्ड ब्रेक' करना, दुःसाध्यताके पूर्व-अध्यवसायमें पार होना। घन्टे पर घन्टे तैरते हैं, बाईसिकिल अविश्रान्त चक्कर खाती है, चुनौती दे

दीर्घ उपवास करते हैं, केवलमात्र अस्वाभाविकताके गौरवका प्रचार करनेके लिए। मयूरको अपने मयूरत्वको लेकर ही गर्व करते देखा जाता है, हिंस्र जन्तु अपनी हिंस्रताकी सफलतामें ही उत्साह बोध करता है ; किन्तु बर्बर मनुष्य मुखश्रीकी विकृति और वेश-भूषाकी अतिकृति लेकर गौरव अनुभव करता है ; जनाता है, "मैं ठीक मनुष्यकी तरह नहीं हूँ, साधारण मनुष्य रूपमें मुझे पहचाननेका कोई उपाय नहीं है।" इस प्रकारके आत्मप्रकाशकी चेष्टाको नंगरर्थक चेष्टा कहते हैं, यह सदर्थक नहीं है, प्रकृतिके विरुद्ध चुनौती मात्र है, जो उसका सहज गुण है, उसका प्रतिवाद मात्र है, इससे अधिक इसका कोई अर्थ नहीं है। जिस भाँति निरर्थक वाह्यानुष्ठानको पुण्यानुष्ठान समझना बर्बरता है, उसी भाँति अहंकारके प्रकाशको आत्मगौरवका प्रकाश समझना भी।

यह जिस भाँति देहकी दिशामें है, उसी भाँति आर्थिक दिशामें भी मनुष्यकी चुनौतीका अन्त नहीं है। यहाँपर भी रेकर्ड ब्रेक करना, इतिहासके बाड़ेके ऊपरसे कूद जाना उसका लक्ष्य है। यहाँ की चेष्टा केवल अस्वाभाविकके लिए नहीं है, असाधारणके लिए है। इसमें सीमाके प्रति सहिष्णुता है, उसके बाहर और कुछ नहीं है। किन्तु जो वस्तुगत है, जो वाह्य है, सीमा ही उसका धर्म है। उस सीमाको बढ़ाया जा सकता है, के पार नहीं जाया जा सकता। जीसु-क्राइस्टने कहा है, सुईके छेदसे जिस भाँति ऊँट नहीं निकल सकता, धनी लोगोंके लिए स्वर्गद्वार उसी भाँति दुर्गम है। क्योंकि, धनी अपने सत्यका ऐसी किसी चीज़ द्वारा प्रकाश करनेका अभ्यस्त है जो अपरिमेयके विपरीत है, इसीलिए वह है हीयतेहर्थात्, मनुष्यके अर्थसे हीन होता है। हाथीकी भाँति बड़े होनेको मनुष्य बड़ा आदमी होना नहीं कहता, शायद बर्बर मनुष्य ऐसा भी कहता है। बाहरके उपकरणोंको पुंजित करनेके गर्व करनेके सम्बन्धमें भी यही बात घटती है। अन्य लोगोंसे मेरा वस्तुसंचय अधिक है, यह बात मनुष्यके लिए

कहने योग्य नहीं है। इसीलिए मैत्रयीने कहा था, येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्। उन्होंने उपकरणवतां जीवितमकी उपेक्षा की थी। जो उस्ताद तानकी अजस्रता गिनकर गानेकी श्रेष्ठतापर विचार करता है, उसकी विद्याकी उसी ऊँटके साथ तुलना करूँगा। श्रेष्ठ गान ऐसी प्राप्तिमें आकर स्तब्ध हो जाता है जिसके ऊपर एकमात्र सुरका भी योग नहीं करा जा सकता। वस्तुतः गानके उस थमनेको सीमा नहीं कहा जा सकता। वह एक ऐसा शेष है, जिसका शेष नहीं। अतएव, यथार्थ गायककी आत्मा अपनी सार्थकताका तानकी प्रभूत संख्या द्वारा प्रकाश नहीं करती, करती है समग्र गानमें चरम रूपके द्वारा जो अपरिमेय, अनिवर्चनीय, बाहरी दृष्टिमें जो अल्प, अन्तरमें जो असीम है। इसीलिए मनुष्यको जो संसार उसके अहंके क्षेत्रमें है उस ओर उसका अहंकार बहुलतामें है, जिस ओर उसकी आत्मा है, उस ओर उसकी सार्थकता भूमामें है। एक ओर उसका गर्व स्वार्थ सिद्धिमें है, और एक ओर उसका गौरव परिपूर्णतामें है। सौन्दर्य, कल्याण, वीर्य और त्याग मनुष्यकी आत्माका प्रकाश करता है; प्राकृत मनुष्यको अतिक्रम करता है, जीवमानवके अन्तरतम विश्व-मानवकी उपलब्धि करता है। यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

अन्य सब प्राणी बाहरसे जीविका का अर्थ खोजनेमें चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। मनुष्यने अपने अन्तरके बीच आश्चर्यचकित होकर किसका अनुभव किया, जो कि निहितार्थोदधाति हैं, जो उसे उसका अन्तर्निहित अर्थ दे रहे हैं। वही अर्थ मनुष्यकी आत्माका गम्भीर अर्थ है। वह अर्थ यह है, मनुष्य महत् है; मनुष्यको प्रमाणित करना होगा कि वह महत् है, तभी प्रमाणित होगा कि वह मनुष्य है। प्राणका मूल्य देकर भी उसे अपनी भूमाका प्रकाश करना होगा; क्योंकि वह चिरन्तन मानव हैं, सर्वजनीन मानव हैं, वह मृत्युके अतीत हैं, उन्हें जो अर्घ्य देना होगा वह अर्घ्य अपनी ही अन्तरतम वेदीपर समस्त मनुष्योंका होगा, समस्त कालोंका होगा।

अपने ही परमको न देखनेसे ही मनुष्य बाहरकी ओर सार्थकता खोजने निकलता है। अन्तमें उद्भ्रांत होकर, क्लान्त होकर वह कहता है, कस्मै देवाय हविषा विधेम। मनुष्यका देवता मनुष्यके मनका मनुष्य[१] है; ज्ञान, कर्म, भावमें जिस परिमाणमें सत्य होता हूँ उसी परिमाणमें उस मनके मनुष्यको पाता हूँ—अन्तरमें विकार घटनेपर उसी मनके मनुष्यको मनके बीच नहीं देख पाता। मनुष्यकी जो कुछ दुर्गति है वह अपने मनके मनुष्यको खोनेके कारण है, उसे बाहरके उपकरणमें ढूँढ़ना अपने ही को गैर कर देना है। उस समय अपनेको पैसेमें देखता हूँ, ख्यातिमें देखता हूँ, भोगके आयोजनमें देखता हूँ। यही लेकर तो मनुष्यका इतना विवाद और इतना रोना-धोना है। उसी बाहरमें विक्षिप्त स्वयं-खोये मनुष्यका विलापगान भिखारी पथिकके मुखसे सुना था—

आमि कोथाय पाबो तोरे
आमार मनेर मानुष जे रे।
हाराए सेई मानुषे तार उद्देश्ये
देश विदेशे बेड़ाई घूरे।

अर्थात्, मेरे मनके मनुष्य मैं तुझे कहाँ पाऊँगा, उसी मनुष्यको खोकर उसी के उद्देश्यमें मैं देश-विदेश में चक्कर लगाता हूं।

उसी निरक्षर गाँवके आदमीके मुखसे सुना था—

तोरई भीतर अतल सागर।

उसी पागलने गाया था—

मनेर मध्ये मनेर मानुष करो अन्वेषण।

उसी अन्वेषणकी प्रार्थना वेदमें है, अविरावीर्म एधि—परम मानवके विराट रूपमें जिसका स्वतः प्रकाश हमारे ही बीच है, उनका प्रकाश सार्थक हो।

---

[१] बंगालके भक्त कवि जिन्हें बाउल कहते हैं, भगवानको मनका मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं।

२

अथर्ववेदने कहा है—

ऋतं सत्यं तपो राष्टं श्रमो धर्मस्य कर्म च
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ।

ऋत, सत्य, तपस्या, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, सम्पद और बल समस्त ही उच्छिष्ट अर्थात् उद्‌वृत्त है।

अर्थात्, मानवधर्म कहनेसे हम जो समझते हैं प्रकृतिके प्रयोजनसे वह पार है, वह अतिरिक्ततासे आता है। जीव-जगत्में मनुष्य बढ़तीका भाग है। प्रकृतिके बाड़ेके अन्दर उसे बन्दकर नहीं रखा जा सका। इससे पहले मैंने जीवाणुकोषके साथ देहके सम्बन्धकी आलोचना की थी। अथर्ववेदकी भाषामें कहा जा सकता है कि प्रत्येक जीवकोष अपनी अतिरिक्ततामें वास करता है। उसी अतिरिक्ततामें ही स्वास्थ्य आनन्द शक्ति उत्पन्न होती है, उसी अतिरिक्ततापर ही सौन्दर्यका अधिकार है, उसी अतिरिक्ततासे ही भूत-भविष्यत् प्रसारित है। जीवकोष इस समग्र देहगत विभूतिकी उपलब्धि नहीं करता। किन्तु मनुष्य प्रकृतिनिर्दिष्ट अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको पारकर जाता है, पारकर वह जिस आत्मिक सौन्दर्यकी उपलब्धि करता है, अथर्ववेदने उसे ही कहा है, ऋतं सत्यम्। यह समस्त ही विश्वमानव मनकी भूमिकामें है, जो इसे स्वीकार करते हैं वह ही मनुष्यकी पदवीपर आगे बढ़ते हैं। अथर्ववेदने जिन समस्त गुणोंकी बात कही है, वह समस्त ही मानवगुण हैं। उनके योगसे यदि हम अपनी जीवधर्म सीमाकी अतिरिक्त सत्ताका अनुभव करें तब कहना होगा, वह सत्ता कभी भी अमानव नहीं है, वह मानवब्रह्म है। हमारे ऋत सत्य

तपस्या धर्म कर्ममें उसी वृहत् मानवको हम आत्मविषयी-कृत करते हैं। इसी बातको ही उपनिषदने और एक ढंगसे कहा है—

एषास्य परमा गति रेषास्य परमा सम्पद्
एषोहस्य परमो लोक एषोहस्य परम आनन्दः।

यहाँ वह एवं यह, इन्हीं दोनोंकी बात है। कहा है, वे इसकी परम गति हैं, वे इसकी परम सम्पद हैं, वे इसके परम आश्रय हैं, वे इसके परम आनन्द हैं। अर्थात्, इसकी परिपूर्णता उनके बीचमें है। उत्कर्षके पथमें जो चल रहा है, वही वृहत की दिशामें है, इसका ऐश्वर्य वहींपर है, इसकी प्रतिष्ठा उन्हींके अन्दर है, इसके शाश्वत आनन्दका जो कुछ धन है, वह उन्हींसे ही है।

यह वे वस्तु-अवच्छिन्न एक तत्त्वमात्र नहीं हैं। जिसे हम 'मेरा मैं' कहते हैं वह जिस भाँति अन्तरतम भावसे मेरा एकान्त बोधविषय है, वे भी उसी भाँति हैं। जिस समय उनके प्रति भक्ति जाग उठती है, जिस समय उनसे आनन्द मिलता है, उस समय यह मैं-बोध ही वृहत् होता है, गम्भीर होता है, अपने सीमातीत सत्यमें प्रसारित होता है। उस समय अनुभव करता हूँ, एक वृहत् आनन्दके अन्तर्गत मेरा आनन्द है। अन्य किसी ग्रन्थमें मैंने जो उपमा व्यवहार की है, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ।

एकखण्ड लोहेका रहस्य भेदकर वैज्ञानिकने कहा, वह टुकड़ा और-कुछ नहीं है, कितनी अनेक विशेष प्रकारकी विद्युतमण्डलीकी चिरचंचलता है। उसी मण्डलीके तड़ितकण अपने आयतनके अनु-पातमें आपसमें बहुत दूर-दूर अवस्थित हैं। विज्ञानकी दृष्टिसे जो देखा गया सहज दृष्टिसे यदि उसी भाँति देखा जाता, तब तो मानव-मण्डलीमें प्रत्येक व्यक्तिको जिस भाँति पृथक देखता हूँ, उसी भाँति उनको भी देखता। यह अणु कितने भी पृथक क्यों न हों इनके बीच एक शक्ति काम कर रही है। उसे शक्ति ही कहा जाय तो कोई हर्ज नहीं। वह सम्बन्धशक्ति, ऐक्यशक्ति, वह ही लोहखण्डकी

संघशक्ति है। हम जब लोहा देखते हैं तब विद्युतकण नहीं देखते, देखते हैं उसके संघरूपको। वस्तुतः यह जो लोहेका प्रतीयमान रूप है, यह एक प्रतीक है। जो वस्तु परमार्थत है, यह तो नहीं है। यदि अन्यविध दृष्टि रहे तो इसका अन्यविध प्रकाश होगा। दस रुपयेका नोट मिला, विशेष राजत्वमें उसका विशेष मूल्य है। इसके देखनेमात्रसे जो जानता है कि यह कागज़ स्वतन्त्र दस-संख्या के रुपयेका संघरूप है, तभी ही वह उसको ठीक जानता है। एक कागज़ इसी संघका प्रतीक है।

हम जिसे आँखसे लोहा देखते हैं वह भी उसी संघका प्रकाश करता है जिसे आँखसे नहीं देखा जाता, देखा जाता है स्थूल प्रतीकमें। उसी भाँति व्यक्तिगत मनुष्योंके बीच देशकालका यथेष्ट व्यवधान है, किन्तु समस्त मनुष्योंको लेकर एक वृहत् एक्य है। वह इन्द्रियातीत एक्य सांख्यिक समष्टिको लेकर नहीं है, समष्टिको अतिक्रम करके है। वही समस्तकी एक गूढ़ आत्मा है, एकधैवानुद्रष्टव्यः, किन्तु बहुधा शक्तियोगमें उसका प्रकाश है। समस्त मनुष्योंके बीच उसी एक आत्माको अपने अन्दर अनुभव करनेकी उदार शक्ति जिन्होंने पाई ह, उन्हींको तो महात्मा कहते हैं। वे ही तो सर्व मानवोंके लिए प्राण दे सकते हैं। वह ही तो इस एक गूढ़ आत्माको लक्ष्यकर कह सकते हैं, तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोहन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यदयमात्मा—वे पुत्रसे भी प्रिय, वित्तसे भी प्रिय, अन्य सबसे प्रिय हैं, यही आत्मा है जो अन्तरतर है।

वैज्ञानिक यही बात सुनकर धिक्कार देते हैं, कहते हैं, देवताको प्रिय कहनेसे देवतामें मानविकताका आरोपण होता है। मैं कहता हूँ मानवत्व आरोपण नहीं, मानवत्वकी उपलब्धि होती है। मनुष्य अपनी मानविकताके महात्मबोधका अवलम्बनकर अपने देवतामें आ पहुँचा है। मनुष्यका मन अपने देवतामें अपने मानवत्वका प्रतिवाद नहीं कर सकता। उसके लिए करना सत्य नहीं है। ईथरके कम्पनमें

मनुष्य आलोकत्वका आरोप नहीं करता, उसे स्वतः ही आलोकरूपमें अनुभव करता है, आलोकरूपमें ही व्यवहार करता है, करके फल पाता है—यह भी उसी तरह है।

परम मानविक सत्ताके पार परम जागतिक सत्ता है। सूर्यलोकको छोड़कर जिस भाँति नक्षत्रलोक है। किन्तु जिसका अंश यह पृथ्वी है, जिसके उत्तापमें पृथ्वीका प्राण है, जिसके योगसे पृथ्वीका चलना-फिरना है, पृथ्वीकी दिन-रात है, वह एकान्तभावसे इसी सूर्यलोकमें है। ज्ञानमें हम नक्षत्रलोकको जानते हैं किन्तु ज्ञान, कर्म, आनन्द और देहमनमें सर्वतोभावसे इसी सूर्यलोकको जानते हैं। उसी भाँति जागतिक भूमा हमारे ज्ञानका विषय है, मानविक भूमा हमारी समग्र देह मन और चरित्रकी परितृप्ति और परिपूर्णताका विषय है। हमारा धर्मश्च, कर्मच, हमारा ऋतं सत्यं, हमारा भूतं भविष्यत् उसी सत्ताकी अपर्याप्तिमें है।

मानविक सत्ताको सम्पूर्ण छोड़कर जो नैर्वैयक्तिक जागतिक सत्ता है, उसको प्रिय कहने अथवा कोई-कुछ कहनेका कोई अर्थ नहीं है। वह अच्छे-बुरे सुन्दर-असुन्दरके भेदसे वर्जित है। उसके सम्बन्धको लेकर पाप-पुण्यकी बात उठ नहीं सकती। अस्तीतिब्रूवतोहन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। वह है, इसे छोड़ उसे कुछ नहीं कहा जा सकता। मानवमनके समस्त लक्षणोंको सम्पूर्णतः लोप करके उसी निर्विशेषमें मग्न हुआ जाता है, ऐसा सुना जाता है। इसे लेकर तर्क नहीं किया जा सकता। मन-समेत समस्त सत्ताकी सीमा कोई एकदम ही पारकर गया है कि नहीं, अपना मन लेकर मैं निश्चित रूपसे कैसे यह बात कह सकता हूँ। हमलोग सत्तामात्रको जिस भावसे जहाँ भी स्वीकार करते हैं, वह मनुष्यके मनकी ही स्वीकृति है। इसी कारण दोषारोपण कर मनुष्यका मन स्वयं यदि उसको अस्वीकार करता है, तब शून्यताको सत्य कहनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहता। इस प्रकारके नास्ति-वादकी बात भी मनुष्यने कही है, किन्तु वैज्ञानिकको ऐसा कहनेपर

अपना कारबार ही बन्द करना होगा। वैज्ञानिक अभिज्ञता द्वारा हम जिस-जगत्को जानते हैं, अथवा किसी कालमें जाननेकी सम्भावना रखते हैं, वह मानव-जगत् है। अर्थात् मनुष्यकी बुद्धि और युक्तिके ढाँचेके अन्दर केवल मनुष्य ही उसको अपने चिन्तनके आकारमें अपने बोध द्वारा विशिष्टता प्रदानकर अनुभव करता है। ऐसा कोई चित्त कहींपर हो भी सकता है, जिसका उपलब्ध जगत् हमारे गाणितिक परिमापके अतीत है, हम जिसे आकाश कहते हैं, उस आकाशमें जो विराजमान नहीं है। किन्तु जिस जगत्के गूढ़ तत्त्वको मनुष्य अपनी अन्तर्निहित चिन्तन-प्रणालीसे मिलाकर पाता है, उसे मैं किस भाँति अतिमानविक कहूँ। इसीलिए किसी आधुनिक पण्डितने कहा है, विश्वजगत गाणितिक मनकी सृष्टि है। वह गाणितिक मन तो मनुष्यके मनको छोड़कर नहीं गया। यदि चला जाता तब इस जगत्के वैज्ञानिक तत्त्व हम जान ही नहीं पाते, जिस भाँति कुत्ता, बिल्ली किसी भाँति नहीं जानने पाते। जो हमारे दर्शनशास्त्रमें सगुण ब्रह्म हैं उनके स्वरूपके सम्बन्धमें कहा गया है, सर्वेन्द्रियगुणाभासम्। अर्थात् मनुष्यकी बाहिरिन्द्रियअन्तरिन्द्रियके जितने-कुछ गुण हैं उनका आभास उन्हींके अन्दर है। उसका अर्थ ही है, मानवब्रह्म, इसीलिए उनका जगत् मानव-जगत् है। इसे छोड़ यदि अन्य कोई जगत् है तो हमारे लिये जो आज ही नहीं ऐसी बात नहीं है, किसी कालमें भी नहीं है।

इस जगत्को हम अपने बोधसे जानते हैं। जो जानता है कि वही मेरी आत्मा है, वह अपनेको भी स्वयं जानता है। यह स्वप्रकाश आत्मा अकेली नहीं है। मेरी आत्मा, तुम्हारी आत्मा, उसकी आत्मा इस भाँति कितनी आत्मायें हैं। जो एक आत्माके अन्दर सत्य हैं, उन्हें हमारे शास्त्रमें परमात्मा कहते हैं। यही परमात्मा मानवपरमात्मा हैं, ये हैं सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। ये सर्वदा जन-जनके हृदयमें प्रतिष्ठित हैं।

कहा गया है, हमारी समस्त इन्द्रियोंका आभास इसीके बीच है,

किन्तु इससे ही सारी बात समाप्त नहीं हुई। एक आत्माके साथ और-एक आत्माका जो सम्बन्ध सबसे अधिक निविड़ है, सबसे अधिक सत्य है, उसीको प्रेम कहते हैं। भौतिक विश्वके साथ हमारा वास्तव परिचय इन्द्रिबोध द्वारा है, आत्मिक विश्वके साथ हमारा सत्य परिचय प्रेम द्वारा है। पिता-माताके प्रेममें ही मनुष्यने जन्ममुहूर्तमें ही आत्मिक विश्वका परिचय आरम्भ किया है। यहाँपर अपरिमेयका रहस्य है, अनिर्वचनीयका संस्पर्श है। मनमें प्रश्न उठा, यह पिता-माताका सत्य कहाँपर प्रतिष्ठित है? दाल्भ्य यदि उत्तर दें, इसी पृथ्वीकी मिट्टीमें, प्रवाहन बाहर सिर निकालकर कहेंगे, जो पितृतम है, पितृनाम है, समस्त पिता ही जिनके बीच पितृतम हो निवास करते हैं, उन्हींके बीच है। मिट्टीका अर्थ उसे बाहरसे उलट-पलटकर, पिता-माताका रहस्य अपनी आत्माकी गहराईमें एवं उसी गहराईकी उपलब्धिकर पितृतमको समझ पाता हूँ। वह पितृतम विशेष किसी स्वर्गमें नहीं है, किसी विशेष देशकालके इतिहासमें बद्ध नहीं है, यह किसी एक मनुष्यमें एकदा अवतीर्ण नहीं है, यह प्रेमके सम्बन्धसे निखिल मानवलोकके मानवोंके भूत, भविष्यत् को पूर्ण करे हुए हैं। उन्होंने दुर्गम पथके भीतरसे परिपूर्णताकी ओर असत्यसे सत्यकी ओर , अन्धकारसे ज्योतिकी ओर, मृत्युसे अमृतकी ओर , दुःखके बीचसे, तपस्याके बीचसे आह्वान किया है।

इस आह्वानने किसी कालमें कहीं भी मनुष्यको थमने नहीं दिया ; उसको उसने चिरपथिक बना दिया। थककर जिन्होंने पथ छोड़ पक्के घर बना लिये हैं, उन्होंने अपनी समाधिकी रचना कर ली है। मनुष्य यथार्थ ही अनागरिक है। जन्तुओंने पाया है वास, मनुष्यने पाया है पथ। मनुष्यके बीच जो श्रेष्ठ हैं वह हैं पथ-निर्माता, पथ-प्रदर्शक। बुद्धसे जब किसी एक आदमीने चरमतत्त्वका प्रश्न पूछा था, उन्होंने कहा था, "मैं चरमकी बात कहने नहीं आया हूँ, मैं पथकी बात कहूँगा।" मनुष्यने एक युगमें जिसका आश्रय लिया और एक

युगमें उन्मादीकी भाँति दिवाल तोड़कर वह उसके बाहर पथमें आ पड़ा। यह जो बार-बार घरको तोड़कर चलनेकी उद्यामता है, जिसके लिए वह जी-जान एक किये हुए है, यह किस सत्यको प्रमाणित करती है। उसी सत्यके सम्बन्धमें उपनिषद कहते हैं, मनसो जवीयो नैनद्‌वेवा आनूवन पूर्वमर्षत्। वह मनको इन्द्रियको छोड़कर चले गये हैं। छोड़कर यदि नहीं जाते तो मनुष्य भी पद-पदपर अपने को छोड़कर नहीं जाता। अथर्ववेदने कहा है, इस अन्य ही दिशामें इस छोड़ जानेकी दिशामें ही मनुष्यकी श्री, उसका ऐश्वर्य, उसका महत्व है।

इसीलिए मानवदेवताके सम्बन्धमें यह बात सुनता हूँ—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् उर्जितमेव वा
उत्त देवावगच्छ त्वं मम तेजोहंशसम्भवम्।

जिस किसीमें ऐश्वर्य है, श्री है, श्रेष्ठता है, वह मेरे ही तेजके अंशसे सम्भूत है।

विश्वमें छोटे-बड़े नाना पदार्थ हैं। रहने मात्रकी जो कीमत है वह सबके लिए ही समान है। केवल अस्तित्वके आदर्शमें मिट्टीके ढेलेके साथ पद्मफूलके उत्कर्ष-अपकर्षका भेद नहीं है। किन्तु मनुष्यके मनमें एक ऐसा मूल्यभेदका आदर्श है जिसमें प्रयोजनका विचार नहीं है, जिसमें आयतन अथवा परिमाणकी तोल नहीं चलती। मनुष्यके अन्दर वस्तुके अतीत एक अहेतुक पूर्णताकी अनुभूति है, एक अन्तरतम सार्थकताका बोध है। उसीको वह कहता है श्रेष्ठता। अथच, इस श्रेष्ठताके सम्बन्धमें मैं मतएक्य नहीं देखता। इसलिए वह जो नैर्वैयक्तिक शाश्वत सत्य है, यह बात किस भाँति कही जा सकती है।

ज्योतिर्विद दुरबीन लेकर ज्योतिष्ककी पर्यालोचना करते हैं, किन्तु उनकी बाधा विस्तृत है। आकाशमें पृथ्वीकी धूल है, वायुका आवरण है, वाष्पका अवगुण्ठन है, चारों ओर नाना प्रकारकी चंचलता है। यन्त्रकी त्रुटि भी असम्भव नहीं है, जो मन देख रहा है उसके अन्दर पूर्णसंस्कारकी आविलता है। भीतर-बाहरके समस्त व्याघात

निरस्त करके विशुद्ध पाया जा सकता है। वह विशुद्ध सत्य एक है, किन्तु बाधाग्रस्त प्रतीतिके विशेषत्वके अनुसार भ्रान्तमत बहुत हैं।

पुरानी सभ्यताके मिट्टीसे ढँके जीर्ण-शीर्ण चिह्नावशेष उद्धारकर मनुष्य अपनी श्रेष्ठताका प्रकाश करनेके हेतु प्रभूत प्रयास करता है। जिस कल्पनाको सब कालोंके सब मनुष्य कहते हैं, वह अनुभव करता है उसीके द्वारा सर्वकालमें अपना परिचय देनेसे उसका कितना बल, कितना कौशल है। चित्रोंसे, मूर्त्तियोंसे, घरके व्यवहारकी सामग्रीसे, वह व्यक्तिगत मनुष्यकी इच्छाका प्रचार नहीं करना चाहता, विश्वगत मनुष्यके आनन्दको स्थायीरूप देनेके लिए उसकी इतनी दुसाध्य साधना है। मनुष्य उसीको श्रेष्ठता जानता है, जिसे सब कालोंके सब मनुष्य स्वीकार कर सकें। अर्थात्, अपनी आत्मामें सब मनुष्योंकी आत्माका परिचय देकर। इसी परिचयकी सम्पूर्णतामें ही मनुष्यका अभ्युदय है, उसकी विकृतिमें ही मनुष्यका पतन है। वाह्यसम्पदके प्राचुर्यके बीच वह विनिष्टका लक्षण तब सहसा दिखाई देता है, जब मदान्ध स्वार्थान्ध मनुष्य चिरमानवके विरुद्ध विद्रोह करता है। पाश्चात्य महादेशमें क्या आज वही लक्षण नहीं दिखाई दे रहा है? वहाँ विज्ञान है, वाहुबल है, अर्थबल है, बुद्धि-बल है, किन्तु इसके द्वारा भी मनुष्य रक्षा नहीं कर पाता। राष्ट्र-वादके शिखरके ऊपर चढ़ विश्वग्रासी लोभ जब मनुष्यत्वका खर्ब करनेकी चुनौती देता है, राष्ट्रनीतिमें निष्ठुरता और छलनाकी सीमा नहीं रहती, एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या एवं संशय जिस समय निदारुण हिंस्रतापर सान देने बैठते हैं, उस समय मानवका धर्म आघात पाता है, एवं मानवका धर्म ही फिरकर मनुष्यपर आघात करता है। यह किसी पौराणिक ईश्वरकी आदिष्ट विधिके विरुद्ध विद्रोहकी बात नहीं है। यह सब हैं अहंकारी आत्महनो जनाः। ये लोग उसी आत्माको मारते हैं, जो-आत्मा स्वदेश या स्वगोष्टीके बीच बद्ध नहीं है, जो आत्मा नित्यकालीन विश्वजनकी है। अकेली निजकी या निजकोंको बड़ा

करनेकी चेष्टामें अन्य-मस्त प्राणियोंकी उन्नति हो सकती है, उससे उनके द्वारा सत्यद्रोह नहीं होता ; किन्तु मनुष्यके लिए वही असत्य और अधर्म है ; इसीलिए मस्त प्रकारकी समृद्धिके बीच भी उसके द्वारा ही मनुष्य समूलेन विनश्यति।

विशुद्ध सत्यकी उपलब्धिमें विश्वमानवमनका प्रकाश है, यह बात स्वीकार करना सहज है, किन्तु रसकी अनुभूतिमें उसी विश्वमनको हृदयंगम करता हूँ कि नहीं, इसे लेकर संशय जन्म सकता है। सौन्दर्यमें आनन्दबोधका आदर्श देशकाल पात्रभेदसे यदि भिन्न हो तो उसका शाश्वत आदर्श कहाँ रहा। अथच, वृहत्कालमें मिलाकर जब मनुष्यके इतिहासको देख पाता हूँ, शिल्प-सौन्दर्यकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें समस्त साधकोंका मन मिलनेकी दिशामें ही जाता है। यह बात सत्य है कि निश्चित भावसे प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर सृष्टिमें सम्पूर्ण रस नहीं पाता। अनेक व्यक्तियोंका मन रूपके प्रति काना है, उनकी व्यक्तिगत रुचिके साथ विश्वरुचि नहीं मिलती। मनुष्यके अन्दर अनेक स्वभावसे ही विज्ञानमूढ़ हैं, विश्वके सम्बन्धमें उनकी धारणा मोहाच्छन्न होनेके कारण ही वह बहुल हैं, एक संस्कारके साथ अन्य दूसरे संस्कारका मेल नहीं हो पाता। अथच निजी-निजी अन्धसंस्कारकी सत्यताके सम्बन्धमें प्रत्येकका एक ऐसा प्रचण्ड दम्भ है कि उसे लेकर वह खून-खच्चर करनेके लिए भी प्रस्तुत हैं। इस भाँति संसारमें स्वभावसे ही अरसिकों या बेरसिकोंका अभाव नहीं है ; उनका मतभेद भी सांघातिक हो उठता है। निम्नसप्तकसे लेकर उच्चसप्तक तक उनकी नाना प्रकारकी जन्ममूढ़ता होनेके कारण ही जिस भाँति ज्ञानकी विश्वभूमीन सम्पूर्णताकी अश्रद्धा नहीं की जा सकती, सौन्दर्यके आदर्शके सम्बन्धमें भी यही बात लागू होती है।

बर्ट्रेण्ड रसेलने किसी एक ग्रन्थकी भूमिकामें लिखा है कि बीथोवनकी 'सिम्फॉनी'को विश्वमनकी रचना नहीं कहा जा सकता, वह व्यक्तिगत है ; अर्थात्, वह उस गाणितिक तत्त्वकी तरह नहीं है, जिसकी

उद्‌भावनाके सम्बन्धमें व्यक्तिगत मन उपलक्ष्यमात्र है, जो निखिल मनकी सामग्री है। किन्तु यदि यह बात स्वीकार करनी हो कि बीथोवनकी रचना सबको ही अच्छी लगनी चाहिये, अर्थात् ठीक प्रकारसे शिक्षा पाने, स्वाभाविक चित्तजड़ता न रहने, अज्ञान अनभ्यासके आवरण दूर होनेपर समस्त मनुष्योंको वह अच्छी लगेगी, तबतो कहना होगा—श्रेष्ठ गीत रचयिताका श्रेष्ठत्व समस्त मनुष्योंके मनमें सम्पूर्ण है, श्रोतृरूपसे व्यक्ति विशेषके मनमें वह बाधाग्रस्त है।

बुद्धि वस्तु अस्तित्व रक्षाके लिए अपरिहार्य है, किन्तु सौन्दर्यबोधकी अपूर्णता रहते हुए भी संसारमें सिद्धिलाभके अनेक दृष्टान्त हैं। सौन्दर्य बोधका कोई सांघातिक तकाज़ा नहीं। इस सम्बन्धमें स्वेच्छाचारकी कोई दण्डनीय बाधा नहीं। युक्ति-स्वीकारकारी बुद्धि मनुष्यके मनमें, प्राणके विभागमें जितनी सुनिश्चित हुई है, नियन्त्रणके अभावमें सौन्दर्य-स्वीकारकारी रुचि उस तरह पक्की नहीं है। तब भी समस्त मानव-समाजमें सौन्दर्यसृष्टिके काममें मनुष्यकी जितनी प्रभूत शक्तिका प्रयोग हो रहा है, वह छोटी चीजोंको लेकर ही। अथच, जीवनधारणका इसे प्रयोजन नहीं है, इसका प्रयोजन आत्मिक है। अर्थात्, इसके द्वारा मैं बाहरकी चीज़को नहीं पाता, अन्तरकी दिशासे दीप्तिमान होता हूँ, परितृप्त होता हूँ। इसी परितृप्ति होने द्वारा जिन्हें जानता हूँ उन्हें कहता हूँ, रसौ वै सः।

यही होने द्वारा पानेकी बात उपनिषदमें बार-बार सुनी जाती है; उससे मैं यही समझता हूँ, मनुष्यका जो चरम पानेका विषय है उसके साथ मनुष्य एकात्मक है, मनुष्य उसीके अन्दर सत्य है—केवल उसके बोधकी ही बाधा है।

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नूयात्।

कहा है, केवल जाननेके द्वारा उसे नहीं पाया जाता। होने द्वारा पाना होगा, दुश्चरितसे विरत होने, समाहित होने, रिपु-दमनकर अचंचल मन

होने द्वारा ही उसे पाना होगा। अर्थात्, यह इस किस्मका पाना है जैसे अपने ही चिरन्तन सत्यको पाना।

पहले ही कह चुका हूँ, भौतिक सत्यको विशुद्ध रूपमें देखनेके लिए पासकी समस्त मलिनता और चंचलता, व्यक्तिगत समस्त विकार दूर करना आवश्यक है। आत्मिक सत्यके सम्बन्धमें यह बात और भी अधिक लागू होती है। जिस समय हम पशुसत्ताके विकारको आत्मिक सत्यपर आरोपित करते हैं, उस समय वही प्रमाद सबसे अधिक सांघातिक हो उठता है। क्योंकि, उस समय हमारे होनेकी भित्तिपर ही आघात होता है। जाननेकी भूलसे होनेकी भूल कितनी सर्वनाशी है यह उस समय समझ पाता हूँ जब देखता हूँ, विज्ञानकी सहायतासे जिस शक्तिको हमने आयत्त किया है वह शक्ति ही मनुष्यकी हिंसा और लोभका वाहन होकर पृथ्वीके एक भागसे लेकर दूसरे भाग तक उसके आत्मघातका विस्तार करती है। इसीलिए सम्प्रदायके नाममें व्यक्तिगत या विशेषजनगत स्वभावकी विकृति मनुष्यकी पापबुद्धिको जितना आश्रय देती है, उतना वैज्ञानिक भ्रान्ति किंवा वैषयिक विरोध भी नहीं देते। साम्प्रदायिक देवता उस समय विद्वेषबुद्धि, अहंकार, अवज्ञता, मूढ़ताका दृढ़ आश्रय लेकर खड़ा होता है; श्रेयकी नामांकित पताका ले अश्रेय जगद्व्यापी अशांतिका प्रवर्तनकर—स्वयं देवत्व अवमानित होकर मनुष्यको अवमानित और परस्पर व्यवहारमें आतंकित कर रखता है। हमारे देशमें यही दुर्योग हमारी शक्ति और सौभाग्यके मूल पर आघातकर रहा है।

अन्य देशोंकी भी उसके दृष्टान्त मौजूद हैं। साम्प्रदायिक ईसाई भारतवर्षके साम्प्रदायिक देवचरित्रमें, पूजाविधिमें, चरित्रविकृति या हिंस्रता देख अवज्ञाका प्रकाश करते हैं। संस्कारवश नहीं देख पाते, मनुष्यकी अपनी अहितबुद्धि उनके ही देवताकी धारणापर किस तरह निदारुणभावसे अधिकार कर सकती है। अप्सुदीक्षा या बैपटिज्म होनेसे पहले किसी शिशुकी मृत्यु होनेपर जिस साम्प्रदायिक शास्त्र-

मतमें उसका अनन्त नरकवास विहित हो सकता है, उसी शास्त्रमतमें, देवचरित्रमें जो असीम निर्दयताका आरोप करना हुआ है, उसकी तुलना कहाँ है। वस्तुतः जिस किसी भी पापका प्रसंग हो, अनन्त-नरककी कल्पना हिंस्रबुद्धिका चरम प्रकाश है। यूरोपके मध्ययुगमें शास्त्रगत धर्म विश्वासको अविचलित रखनेके लिए जो विज्ञान विरोधी और धर्मविरुद्ध उत्पीड़न आचरित हुआ उसकी भित्ती भी यहींपर है। उसी नरकका आदर्श सभ्य मनुष्यके जेलखानोंमें आज भी अपनी विभीषिका विस्तारकर वर्तमान है। वहाँपर शोधन करनेकी नीति नहीं, है शासन करनेकी हिंस्रता।

मनुष्यके विकासके साथ-साथ ही देवताकी उपलब्धि मोहमुक्त हो उठती है, अन्ततः होना उचित भी है। नहीं होती उसका कारण है, धर्मसम्बन्धीय सब-कुछको हम नित्य मान बैठे हैं। भूल यही है कि धर्मके नित्य आदर्शकी श्रद्धा करनेके कारण धर्ममतको भी नित्य कहकर स्वीकार करना होगा, ऐसी बात कहनेसे काम नहीं चलता। क्योंकि भौतिक विज्ञानके मूलमें नित्य सत्य है अतः वैज्ञानिक मतमात्र ही नित्य है, ऐसी कट्टरपंथीकी बात यदि कहूँ तब तो आज भी कहना होगा सूर्य ही पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करता है। धर्मके सम्बन्धमें भी साधारणतः यही भूल घटती है; सम्प्रदाय अपने धर्मको ही सत्य कहते हैं और इस भाँति धर्मपर ही आघात करते हैं। उसके बाद जिस–विवाद, जिस निर्दयता, जिस बुद्धि विचारहीन अन्धसंस्कारका प्रवर्तन होता है, मनुष्यके जीवनके अन्य किसी विभागमें उसकी तुलना नहीं पाई जाती।

यह बात माननी होगी, भूल मत मनुष्यका ही है, जन्तुका नहीं। आदिमकालसे आजतक भूल मतवादका उद्‌भव हो रहा है, जिस कारण मनुष्यमें एक दुर्निवार समग्रताका बोध विद्यमान है। कोई एक तथ्य जिस समय स्वतन्त्रभावसे, विच्छिन्नभावसे उसके सामने आता है, उस समय वह उसीको सम्यक कह स्वीकार नहीं कर सकता। उसे पूर्ण करनेका आग्रह कल्पनाका आश्रय लेता है। वह कल्पना प्रकृतिभेदसे

मूढ़ या प्राज्ञ, सुन्दर या कुत्सित, निष्ठुर या सकरुण, नानाप्रकारकी हो सकती है। किन्तु मूल बात यह है कि उसका यही विश्वास, अप्रत्यक्ष निखिलताका सत्य प्रत्यक्ष विच्छिन्नताको पूर्ण किये हुए है। समग्रको उपलब्ध करनेकी जो प्रेरणा उसके मनमें है, वही उसकी भूमाका बोध है।

मनुष्य अन्तरमें बाहरमें अनुभव करता है, वह एक निखिलके बीच है। उस निखिलके साथ सचेतन सचेष्ट योगसाधन द्वारा ही वह अपनेको सत्यकर जान पाता है। बाहरके भोगमें है उसकी समृद्धि, भीतरके भोगमें है उसकी सार्थकता।

हमारी भौतिक देह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। पृथ्वीकी मिट्टी, जल, वायु, उत्ताप, पृथ्वीका वज़न आयतन गति, समस्तके साथ इस शरीरका सामंजस्य है; कहीं भी उसके साथ इसका एकान्त विच्छेद नहीं है। कहा जा सकता है, पृथ्वी मनुष्यकी परम देह है; साधनाके द्वारा, योगविस्तारके द्वारा इसी विराटको मनुष्य अपना कर लेता है, बड़ी देहके अन्दर छोटी देहको प्रसारित करता है, विश्वभौतिक शक्तिको आयत्तकर परिमित देहकी कर्मशक्तिको परिपूर्ण करता है, आंख स्पष्टतर कर सुदूरस्थ महीयान और निकटस्थ कनीयानको देखता है; दोनों हाथ बहुसहस्र हाथोंकी शक्ति पाते हैं, देशोंका दूरत्व संकीर्ण हो हमारी देहके निकटवर्त्ती हो रहा है। एकदिन समस्त भौतिक शक्ति देह-शक्तिका परिशिष्ट हो उठेगी, मनुष्यका यही संकल्प है।

सर्वतः पानिपादन्तत् सर्वतोहक्षिशिरोमुखम्
सर्वतः श्रुतिमलोंके सर्वमावृत्य तिष्ठिति।

इस वाणीको अपने अन्दर सार्थक करूँ यही स्पर्धा लेकर मनुष्य अग्रसर है। एकदम कुछ-नवीन उद्भावना करेगा, ऐसी बात नहीं है, अपनी देहशक्तिके साथ वह विराट भौतिकशक्तिके संयोगसे उत्तरतरकर उठेगा।

मान लीजिए, सब होगया, भौतिक शक्तिकी पूर्णता घटित हो

गयी। तब भी क्या मनुष्य कहना छोड़ देगा, ततः किम् ? रामायणमें वर्णित दशाननके शरीरमें मानवकी स्वभावसिद्ध देहशक्ति बहुगुणित हुई थी, स्वर्णलंकापुरी दस दिशाओंसे आहरित ऐश्वर्यसे पूर्ण हुई थी। किन्तु महाकाव्यमें उसे तनिक भी जगह नहीं मिली, रामचन्द्रके सम्मुख उसका पराभव हुआ। अर्थात्, बाहरसे दरिद्र, आत्मासे जो ऐश्वर्यवान उसके सामने संसारमें यह पराभव हम सदा प्रत्यक्ष देखते हैं ऐसी बात नहीं है, अनेक समय इससे विपरीत देखता हूँ, तब भी आश्चर्यका विषय यही है कि मनुष्य इसको पराभव कहता है। मनुष्यका और एक गूढ़ जगत् है, उसी जगह इस पराभवका अर्थ पाया जाता है। यही हुआ उसकी आत्माका जगत्।

अपनी सत्ताके परिचयके मनुष्यकी भाषामें दो नाम हैं। एक अहं, और एक आत्मा। एककी प्रदीपके साथ और एककी शिखाके साथ तुलनाकी जा सकती है। प्रदीप अपना तेल संग्रह करता है। अपने उपादानको लेकर प्रदीपकी बाजारदर है—किसीकी दर सोनेकी, किसी-की दर मिट्टीकी है। शिखा अपना ही प्रकाश करती है, एवं उसीके प्रकाशसे और समस्त भी प्रकाशित हैं। प्रदीपकी सीमाको लांघ वह निखिलके बीच प्रवेश करता है।

मनुष्यका आलोक उसकी आत्मा जलाती है, उस समय उसका संचयका अहंकार दूर हो जाता है। वही आत्मा ज्ञानमें, प्रेममें, भावमें विश्वके बीच व्याप्ति द्वारा सार्थक होती है। उसी योगकी बाधामें उसका अपकर्ष है। ज्ञानके योगमें मोह, योगमें अहंकार, कर्मके भावके योगमें लोभ स्वार्थपरता विकार पैदा करते हैं; भौतिक विश्वमें सत्य अपना सर्वव्यापक एक्य प्रमाणित करता है, वैज्ञानिक उसी एक्यकी उपलब्धिमें आनन्दित होते हैं। उसी भाँति आत्माका आनन्द आत्मिक उपलब्धि द्वारा है, जिस आत्माके सम्बन्धमें उपनिषदने कहा है, तमेवैकं जानथ आत्मानम्—उसी आत्माको जानो, उसी एकको, जिसको समस्त आत्माओंके बीच एककर जाननेसे सत्यको जाना जाता है। प्रार्थना-

मन्त्रमें है, य एकः, जो एक हैं, स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु, शुभ-बुद्धि द्वारा वह हम सबको एक कर दें। जिस बुद्धिसे हम सब मिलें वह बुद्धि ही शुभ बुद्धि है, वही बुद्धि आत्माकी है। यथैवात्मा परद्-स्तवद् द्रष्टव्यः शुभमिच्छता। अपने समान दूसरेको देखनेकी इच्छाको ही शुभ इच्छा कहते हैं, सिद्धिलाभ शुभ नहीं, पुण्यलाभ भी शुभ नहीं है। गैरोंके बीच अपने चैतन्यका प्रसारण ही शुभ है, क्योंकि परम मानवात्माके बीच ही आत्मा सत्य है।

सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः—जिस हेतु भगवान सर्वगत, सबोंके लिए हुए हैं, उसी लिये वह शिव हैं। समग्रके बीच ही शिव हैं, एक्यबन्धनमें शिव हैं। आचारवादी जिस समय सामाजिक कृत्रिम विधि द्वारा खण्डताकी सृष्टि करते हैं, उस समय कल्याणको खोकर उसके बदलेमें जो काल्पनिक पदार्थ देकर मनुष्य अपनेको भुलावे-में डालता है उसे उसने पुण्य नाम दिया है। वह पुण्य और जो कुछ हो शिव नहीं है। वहीं समाजविधि आत्माके धर्मको पीड़ित करती हैं। स्वलक्षणन्त यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते। आत्माके लक्षणको जानता है वही मुनि है, वही श्रेष्ठ है। आत्माका लक्षण है शुभबुद्धि, जो—शुभबुद्धि सबोंको एक करती है।

पृथ्वी अपनेमें अपनेसे आवर्तित है, पुनः वृहत् कक्षपथपर वह सूर्यको प्रदक्षिणा कर रही है। मनुष्य समाजमें जो-कुछ चल रहा है, वह भी इस दो प्रकारके वेगसे है। एक ओर व्यक्तिगत मैं-की खेंचसे धनसम्पद प्रभुत्वका आयोजन पुँजीभूत हो उठा है और-एक ओर अमितमानवकी प्रेरणासे परस्पर उसके कर्मका योग है, उसके आनन्दका योग है, एक दूसरेके उद्देश्यके लिए त्याग है। यहींपर आत्माके लक्षणको स्वीकार कर ही उसकी श्रेष्ठताकी उपलब्धि है। उभयपक्षोंके बीच, पास ही पास, किस प्रकारकी विपरीत असंगति दिखाई देती है, उसका एक दृष्टान्त दिया जाय।

कई वर्ष पूर्व लन्दनके टाइम्स पत्रमें एक संवाद प्रकाशित हुआ

था, अमरीकाके नेशन पत्रसे मुझे उसका विवरण प्राप्त हुआ है। वायुयान पर चढ़कर ब्रिटिश वायुसैन्य अफग़ानिस्तानके महसूद ग्रामको ध्वंस करने लगे। शतघ्नीवर्षणी एक वायुयान विफल हो ग्रामके बीच गिर पड़ा। एक अफग़ान लड़की वायुचालकोंको एक निकटवर्ती गुफामें ले गयी, एक मालिक उनकी रक्षाके लिए गुफापर तैनात हो गया। चालीस मनुष्य तलवारें निकालकर उनपर आक्रमण करनेको उद्यत हैं, मालिकने उन्हें भुलावेमें डाल रखा है। उस समय भी ऊपरसे बम पड़ रहे हैं, भीड़के लोग गुफामें आश्रय लेनेके लिए ठेलमठेल कर रहे हैं। निकटवर्ती स्थानके अन्य कई मालिक और एक मुल्ला इनके आतिथ्यमें प्रवृत्त हुए। कुछ लड़कियोंने इनके आहारका भार अपने ऊपर लिया। अन्तमें कुछ दिन पश्चात् उन्हें महसूदका छद्मवेश पहनाकर निरापद स्थानपर पहुँचा दिया।

इस घटनामें मानव-स्वभावकी दो विपरीत दिशाएँ दिखाई देती हैं। येरोप्लेनसे बमवर्षामें मनुष्यकी शक्तिकी आश्चर्यजनक समृद्धि है, भूतलसे नभस्थल तक उसकी सहस्र बाहुओंका विपुल विस्तार देखा जाता है। पुनः हननमें प्रवृत शत्रुको क्षमाकर वह उसकी रक्षाकर सका, मनुष्यका यह और एक परिचय है। शत्रुहननकी सहज प्रवृत्ति मनुष्यके जीवधर्ममें है, उसे पारकर मनुष्यने अद्‌भुत बात कही, "शत्रुको क्षमा करो।" यह बात जीवधर्मके लिए हानिकर किन्तु मानवधर्मके उत्कर्षका लक्षण है।

हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं युद्धकालमें जो मनुष्य रथपर नहीं है, जो भूतलपर है, रथी उसको नहीं मारे। जो क्लीव है, जो कृतांजलि है, जो मुक्तकेष है, जो आसीन है, जो मनुष्य कहता है, 'मैं तुम्हारा ही हूँ', उसको भी नहीं मारो। जो सो रहा है, जो वर्महीन है, जो नग्न है, जो निरस्त्र है, जो आयुष्यमान है, जो युद्ध देखमात्र रहा है, जो दूसरेके साथ युद्धमें प्रवृत्त है, उसको भी न मारो। जिसका अस्त्र टूट गया है, जो शोकार्त है, जो परीक्षत है, जो भीत है, जो परावृत है, सतधर्मका अनुसरणकर उसे भी न मारो।

सतके धर्मका मतलब है मनुष्यके अन्दर जो सत्य है उसीका धर्म, मनुष्यके अन्दर जो महत् है उसीका धर्म। युद्ध करते समय यदि मनुष्य उसे अस्वीकार करे तब छोटी दिशामें उसकी जीत होनेपर भी बड़ी दिशामें उसकी हार है। उपकरणकी दिशामें उसकी सिद्धि है, अमृतकी दिशामें वह वंचित है, इस अमृतका आदर्श माप-जोखके बाहर है।

स्वर्ण अलंकारकी माप-जोख चलती है। दशाननके सिर और हाथ गिनकर विस्मित होनेकी बात सुनी जाती है। उसकी अक्षौहिणी सेना-की भी संख्या है, जय-विस्तारकी परिधि द्वारा उस सेनाकी शक्ति भी परिमेय है। आत्माकी महिमाका परिमाण नहीं। शत्रुके निधनका परिमाण है, शत्रुको क्षमा करनेका परिमाण नहीं है। आत्मा जिस महार्घ्यतामें अपना परिचय देती है और पाती है, वही परिचय क्या सचमुच अपरिमेयके बीच विराजमान नहीं होता, जिसे अथर्ववेदने कहा है, समस्त सीमाका उद्वृत्त, समस्त शेषका उत्शेष। वह क्या एक ऐसा स्वयंभू बुदबुद है किसी समुद्रके साथ जिसका कोई योग नहीं? मनुष्य-के पास ही सुना है, न पापे प्रतिपापः स्यात्—तुम्हारे प्रति जो पाप करता है उसके प्रति लौटकर पाप न करो। बात चाहे व्यवहारमें व्यक्ति विशेष माने न माने किन्तु तब भी मन उसे पागलका प्रलाप कह नहीं हंस उठता। मनुष्यके जीवनमें इसकी स्वीकृति दैवात् देखता हूँ, प्रायः विरुद्धता देखता हूँ, अर्थात् सिर गिनकर इसका सत्य दिखाई नहीं देता कहना ही काफ़ी है। तब इसकी सत्यता कहाँ है? मनुष्यके जिस स्वभावमें यह है उसका आश्रय कहाँ है? मनुष्यने इस प्रश्नका क्या उत्तर दिया है, जरा सुनूँ।

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिविकृतिश्च या ।

जिसकी आत्मा पापसे विरत और कल्याणमें निविष्ट है, वह समस्त-को समझे हैं। इसीलिए वह जानते हैं कि कौन स्वभावसिद्ध, कौन स्वभाव-विरुद्ध है।

मनुष्य अपने स्वभावको उसी समय जानता है जिस समय पापसे निवृत होता है, कल्याणकी अर्थात् सर्वजनोंके हितकी कामना करता है। अर्थात् मनुष्यके स्वभावको जानते हैं, मनुष्यके बीच जो महापुरुष हैं। किस तरह जानते हैं? तेन सर्वमिदं बुद्धम्। स्वच्छ मन लेकर समस्तको वह समझता है। सत्य, शिव समग्रके ही बीच है। अहं-सीमाबद्ध स्वभावका जो पाप है, उससे विरत होकर ही मनुष्य अपने आत्मिक समग्रको जान पाता है, तभी अपनी प्रकृत्ति जान पाता है। उसकी यह प्रकृत्ति केवल अपनेको ही लिए हुए नहीं है, उसको लिये हुए है जिसे गीताने कहा है, वेही पौरुषं नृषु हैं, मनुष्यके अन्दर मनुष्यत्व हैं। मनुष्य इसी पौरुषके प्रति लक्ष्यकर कह सकता है, धर्मयुद्धे मृतो वापि तेन लोकएयं जितम्। मृत्युसे उसी पौरुषको वह प्रमाणित करता है, जो उसके देवत्वका लक्षण है, जो मृत्युके अतीत है।

श्रेय प्रेयको लेकर अबतक जो कहा गया है वह समाजस्थितिको ध्यानमें रखकर नहीं कहा गया। निन्दा-प्रशंसाकी भित्तिपर पक्काकर, चिनकर, शासन द्वारा, उपदेश द्वारा, आत्मरक्षाके उद्देश्यसे समाज जो व्यवस्था करता है उसमें चिरन्तन श्रेयोधर्म गौण है, प्रथाघटित समाज-रक्षा ही मुख्य है। इसीलिए ऐसी बात सुनी जाती है, श्रेयोधर्मको विशुद्धभावसे समाजमें प्रवर्तन करना क्षतिकर है। प्रायः ही कहा जाता है, साधारण मनुष्यके बीच भूरि परिमाणमें मूढ़ता विद्यमान है, इसीलिए अनिष्टसे रक्षा करनेके लिए मोह द्वारा उनके मनको भुलावेमें डालना उचित है, मिथ्या उपाय द्वारा उनको भय दिखाना या सान्त्वना देना ज़रूरी है, उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करना ज़रूरी है जैसे कि वह चिर-शिशु अथवा चिरपशु हैं। धर्म सम्प्रदायमें जिस भाँति है, समाजमें भी उसी भाँति है, किसी एक प्राचीनतमकालमें जो समस्त मत और प्रथायें प्रचलित थीं, वे परिवर्तीकालमें भी अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहतीं। पतंगोंके बीच देखा जाता है कि कोई-कोई निरीह पतंग छद्मवेशमें अपनेको बचाता है। समाजरीति भी वैसी ही

है। वह नित्यधर्मके छद्मवेशमें अपनेको प्रबल और स्थायी बनानेकी चेष्टा करती है। एक ओर उसकी पवित्रताका वाह्याडम्बर है, दूसरी ओर पारत्रिक दुर्गतिकी विभीषिका है, उसीके साथ सम्मिलित शासनकी केवल नानाविध कठोर ही नहीं, अन्यायपूर्ण नियम हैं—स्वनिर्मित नरकके इस तर्जनीसंकेतमें निरर्थक अन्ध आचार का प्रवर्तन है। राष्ट्रवादकी इसी बुद्धिका प्रतीक है अन्डमान, फ्रान्सका डेविल आइलैण्ड, इटलीका लिपारी द्वीप। इनके भीतरकी बात यही है कि विशुद्ध श्रेयोनीति और लोकस्थिति एक तालपर नहीं चल सकती। इस बुद्धिके साथ चिर दिन ही उनलोगोंकी लड़ाई चलती आ रही है जो सत्यको, श्रेयको मनुष्यत्वको चरम लक्ष्य मानकर श्रद्धा करते हैं।

राज्य व समाजकी उपयोगिताके रूपमें श्रेयका मूल्य विचार इस प्रबन्धका विषय नहीं है। श्रेयको मनुष्य जो स्वीकार करता है, उस स्वीकृतिका आश्रय कहाँ है, यही मेरा आलोच्य विषय है। राज्यमें समाजमें नानाप्रकारके स्वार्थसाधनके क्षेत्रोंमें प्रतिदिनके व्यवहारमें पद पदपर उसका प्रतिवाद पाया जाता है, तब भी आत्मपरिचयमें मनुष्यने उसे श्रेष्ठ स्थान दिया है, उसीको उसने धर्म अर्थात् अपना चरम स्वभाव कहा है; श्रेयके आदर्शके सम्बन्धमें देशकाल पात्रभेदसे यथेष्ट मतभेद संभव है, उसी श्रेयके सत्यकी समस्त मनुष्योंने ही श्रद्धाकी है, इसीसे मनुष्य मनुष्यके धर्मका कोई स्वरूप प्रमाणित होता है। उसीका मैंने विचार किया है। 'होता है' एवं 'होना चाहिए' यह द्वन्द्व मानव-इतिहासके आरम्भकालसे प्रबल वेगसे चल रहा है, उसके कारणका विचार करते समय कह चुका हूँ—मनुष्यके अन्तरमें एक ओर परममानव और एक ओर स्वार्थसीमाबद्ध जीवमानव है, इन्हीं दोनोंकी सामंजस्य-चेष्टा ही मानवमनकी नाना अवस्थाओंके अनुसार नाना आकार-प्रकारमें, धर्मतन्त्र रूपमें अभिव्यक्त हुई है। नहीं तो जैविक क्षेत्रके जीवधर्ममें केवल सुविधा-असुविधा प्रिय-अप्रिय प्रबल रहता; पाप-पुण्य, कल्याण-अकल्याणका कोई अर्थ नहीं रहता।

मनुष्यकी यह जो कल्याणमति है इसका सत्य कहाँ है। क्षुधा-तृष्णाकी भाँति शुरूसे यदि हमारे मनमें उसका बोध पूर्ण होता तब उसकी साधना न करनी होती। किन्तु समस्त मनुष्योंके मन समष्टि-भूत हो विश्वमानवमनका महादेश सृष्ट होता है, यह बात मैं नहीं कहूँगा। व्यक्तिमन विश्वमनके आश्रित है, किन्तु व्यक्तिमनका योग-फल विश्वमन नहीं है। वह यदि होता जो है वही एकान्त होता, जो हो सकता है उसकी जगह नहीं पाई जाती। अथच, जो हुआ नहीं, जो हो सकता है, मनुष्यके इतिहासमें उसीका ज़ोर, उसीका दावा अधिक है। उसीकी आकांक्षा दुर्निवार हो मनुष्यकी सभ्यताको युग-युगमें वर्त्तमानकी सीमा पार करा देती है। उसी आकांक्षाके क्षीण होनेपर सत्यके अभावमें समाज श्रीहीन हो जाता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि हमारे व्यक्तिगत मनमें सुख-दुःखकी जो अनुभूति है वह विश्वमनके बीच भी सत्य है कि नहीं। विचार करनेपर देखा जाता है, अहंसीमाके बीच जो सुख-दुःख है आत्माकी सीमामें उसका रूपान्तर घटित होता है। जिस मनुष्यने सत्यके लिए, देशके लिए, लोकहितके लिए जीवन उत्सर्ग किया है—वृहत् भूमिकामें जिसने अपनेको देखा है, व्यक्तिगत सुख-दुःखका अर्थ उसके लिए उल्टा हो गया है। वह मनुष्य सहज ही सुखको त्याग सकता है एवं दुःखको स्वीकारकर दुःखको अतिक्रम कर जाता है। स्वार्थकी जीवन-यात्रामें सुख-दुःखका ही भार गुरुतर है, मनुष्य स्वार्थके जीवनको जिस समय छोड़ जाता है, उस समय उसका भार इतना हल्का हो जाता है कि परम दुःखके बीच उसकी सहिष्णुता, परम अपमानके आघातमें उसकी क्षमा अलौकिक मालूम होती है। अपनेको वृहत्में उपलब्ध करना ही सत्य है, अहंसीमामें अवरुद्ध जानना ही असत्य है। यही असत्यता व्यक्तिगत दुःख है।

हम दुःखको जिस भावसे देखते हैं वृहत्के बीच उस भावसे वह नहीं रह पाता, यदि रह पाता तो वहाँ दुःखका लाघव और अवसान न

होता। संगीतकी असम्पूर्णतामें विस्तृत बेसुर है, उस बेसुरमें से एक भी सम्पूर्ण संगीतमें नहीं रह पाता—उस सम्पूर्ण संगीतकी ओर जितना ही जाया जाय उतना ही बेसुरका ह्रास होता जाता है। बेसुर हमें पीड़ा देता है, यदि नहीं देता तो सुरकी दिशामें हमारी यात्रा आगे नहीं बढ़ती। इसीलिए विराटको रुद्र कहते हैं, वे मुक्तिकी ओर, दुःखके पथकी ओर आकर्षित करते हैं। अपूर्णताको क्षयकर ही पूर्णके साथ मिलन विशुद्ध आनन्दमय होगा, विश्वमानवके अन्दर यही अभिप्राय है। उनके प्रति प्रेमको जागरितकर उनके प्रेमको ही सार्थक करूँ, युग-युगमें इसी प्रतीक्षाका आह्वान हमारे पास आता है।

उसी आह्वानके आकर्षणसे मनुष्य अजानाकी ओर निकल पड़ा है, इसी यात्राका इतिहास ही उसका इतिहास है। उसके चलनेके पथ-पार्श्वमें कितने साम्राज्य उठे और गिरे, धन-सम्पद स्तूपीकृत हुई, पुनः मिट्टीमें मिल गई। वयस पार हो जानेपर भी बचपनके खिलौनोंकी भाँति अपनी आकांक्षाको मूर्त रूप देनेके लिए उसने कितनी प्रतिमाएँ गढ़ीं और पुनः तोड़ फेंकीं। कितने मायामन्त्रोंकी चाभी बनानेकी कोशिश की—उसीसे उसने प्रकृतिका रहस्य भण्डार खोलना चाहा, पुनः सब-कुछ फेंक-फाँककर गहन प्रवेशके गोपनपथको नये सिरेसे खोजने निकला। इस प्रकार उसके इतिवृत्तमें एक युगके बाद और एक युग आ रहा है, मनुष्य अन्न-वस्त्रके लिए अश्रान्त यात्रा नहीं कर रहा है, कर रहा है अपनी समस्त शक्ति लगाकर मानव-लोकमें महामानवकी प्रतिष्ठा करनेके लिए ; वह सत्य जो उसके संचित द्रव्यभारसे भी बड़ा है, उसके समस्त कृतकर्मसे भी बड़ा है, उसकी समस्त प्रथा-मत-विश्वाससे भी बड़ा है, जिसकी मृत्यु नहीं, जिसका क्षय नहीं। मनुष्यकी भूलभ्रान्ति और निष्फलता प्रभूत हुई है, पथ-पथपर वह प्रकाण्ड भग्न स्तूपरूपमें उसे छोड़ता आ रहा है ; मनुष्यको अपनी अवरुद्ध सार्थकताके शृंखलाच्छेदनके कठिन अध्यवसायमें दुःख-व्यथाका असीम आघात हुआ है ; इस समस्तको एक मुहूर्त भी

कौन सहन कर सकता यदि मनुष्यकी अन्तरवासी भूमाके अन्दर इसका कोई चिरन्तन अर्थ न होता। मनुष्यके दुःखके ऊपरकी बात यह है— मनुष्य अपने चैतन्यको अपने असीमकी ओर प्रसारित करता है, ज्ञानमें, प्रेममें, कर्ममें वह वृहत्तर एक्यको आयत्त करता चला आ रहा है, अपनी समस्त महत् कीर्तिमें उनका निकटतर सामीत्त्य पानेके लिए उसने अपनी व्यग्र बाहुयें बढ़ाई हैं जिन्हें ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति। मनुष्य हो, जन्म लाभकर क्या आराम चाहूँगा, विश्राम पाऊँगा कहाँ? मुक्ति पानी होगी, मुक्ति देनी होगी, यही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—

महाविश्वजीवनेर तरंगते नाचिते नाचिते
निर्भय छूटिते हबे सत्येर करिया ध्रुवतारा
मृत्युर ना करि शंका। दुर्दिनेर अश्रुजलधारा
मस्तके पड़िबे झरि, तारि माझे जाबो अभिसारे
तारि काछे जीवन सर्वस्वधन अर्पियाछि जारे
जन्म-जन्म धरि।
के से, जानि ना के, चिनि नाई तारे।
शुद्धु एइ टुकु जानि, तारि लागी रात्रि अन्धकारे
चलेछे मानवयात्रि युग हते युगान्तर पाने,
झड़झंझा—वज्रपाते, ज्वालाय धरिया सावधाने
अन्तर-प्रदीपखानि। शुद्धु जानि जे शुनेछे काने
ताहार आह्वान गीत, छूटेछे से निर्भीक पराने
संकट-आवर्त माझे दिएछे से सर्व विसर्जन,
निर्यातन लयेछे से वक्ष पाति, मृत्युर गर्जन
शुनेछे से संगीतेर मतो। दाहियाछे अग्नि तारे,
बिद्ध करियाछे शूल, छिन्न तारे करेछे कुठारे,
सर्वप्रियवस्तु तार अकातरे करिया इन्धन
चिरजन्म तारि लागि ज्वलेछे से होमहुताशन।

शुनियाछि तारि लागि
राजपुत्र परियाछे छिन्न कन्था, विषये विरागी
पथेर भिक्षुक। महाप्राण सहियाछे पले पले
प्रत्यहेर कुशांकुर।
तारि पदे मानी संपियाछे मान,
धनी संपियाछे धन, वीर संपियाछे आत्मप्राण।
शुद्ध जानि
से विश्वप्रियार प्रेमे क्षुद्रतारे दिया बलिदान
वर्जित हइबे दूरे जीवनेर सर्व असम्मान,
सम्मुखे दाँड़ाते हबे उन्नत मस्तक उच्च तूलि
जे-मस्तके भय लेखे नाई लेखा, दासत्वेर धूलि
आँके नाई कलंकतिलक।

4

३

बृहदारण्यकमें एक आश्चर्यजनक बात कही गई है—

अथयोहन्यां देवताम उपासते
अन्योहसौ अन्योहहम् अस्मीति
न स वेद, यथा पषु रेवं स देवानाम्।

जो मनुष्य दूसरे देवताकी उपासना करता है, वह देवता दूसरा है, मैं दूसरा हूँ, जो ऐसी बात सोचता है, वह तो देवताओंके पशुकी भाँति ही है।

अर्थात्, उसी देवताकी कल्पना मनुष्यको अपने बाहर बन्दी बना रखती है; उस समय मनुष्य अपने देवता द्वारा ही अपनी आत्मासे निर्वासित और अपमानित किया जाता है।

यही जो उपनिषदमें सुना गया, पुनः उसी बातको अपनी भाषामें निरक्षर अशास्त्रज्ञ बाउलने[1] कहा है। वह अपने अन्दर ही अपने देवताको जानता है, उसे मनका मनुष्य कहता है। कहता है, "मनेर मानुष मनेर माझे करो अन्वेषण।"

मनुष्यके इतिहासमें ऐसे अनेक धर्म सम्प्रदायोंका उद्भव हुआ है जिन्होंने काठ-पत्थरकी पूजाको हीनता कहा है और उसीको लेकर वह मारकाट करते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ, काठ-पत्थर बाहरकी चीज़ है, वहाँपर सर्वकालोंके सब मनुष्योंकी पूजा नहीं मिल सकती।

---

[1] बंगालके एक भक्त समुदायका नाम बाउल है। बाउल शब्दकी उत्पत्ति बावला शब्दसे हुई है। बावला जिस भाँति अपना अस्तित्व खोकर समस्त स्थानों, समस्त अवस्थाओंमें सबोंके साथ मिलता है उसी भाँति व्यक्ति जब अपना अस्तित्व भूलकर आत्महारा हो भगवानमें विलीन हो पाता है तभी वह वास्तवमें बाउल कहलाता है। —अनु०

मनुष्यकी भक्तिको जाति-जातिमें, प्रथा-प्रथामें वही पूजा विभक्त करती है, उसकी ऐतिहासिक सीमायें संकीर्ण हैं।

किन्तु, उनके विरुद्ध सम्प्रदायका देवता भी प्रतिमाकी ही भाँति बाहर अवस्थित है, नाना प्रकारके अमानुषिक विशेषणों, लक्षणोंसे सज्जित है, केवल यही नहीं, जाति विशेषके ऐतिहासिक कार्य-कलापोंसे जड़ित और काल्पनिक कहानियों द्वारा दैशिक और कालिक विशेषता-ग्रस्त है। यह मूर्तिपूजा सूक्ष्मतर उपादानोंसे रचित होनेके कारण ही अपनेको अमूर्तिपूजा कहनेमें गर्व करती है। वृहदारण्यकने इसी वाह्यताकी ही हीन कहकर निन्दा की है। वह कहता है, जो देवताको मुझसे पृथककर स्थापन करता है, उसीको स्वीकार करनेसे ही मैं निजको निजके सत्यसे दूर हटा देता हूँ।

इस तरहकी बातपर एक क्रुद्ध कलरव उठ सकता है। तब क्या मनुष्य अपने आप ही अपनी पूजा करेगा? अपनी भक्ति करना क्या सम्भव है? तब तो पूजा-पाठको कहना होगा अहंकारका विपुली-करण।

एकदम उल्टा। अहंको लेकर ही अहंकार है। वह तो पशु भी करता है। अहंसे वियुक्त आत्मामें भूमाकी उपलब्धि एकमात्र मनुष्यके लिए ही साध्य है। क्योंकि मनुष्यके लिए वही सत्य है। भूमा आहार-बिहार, आचार-विचार, भोग-नैवेद्य और मंत्र-तंत्रमें नहीं है। भूमा विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध प्रेम, विशुद्ध कर्ममें है। बाहरके देवताको रख स्तवन, अनुष्ठान, पूजोपचार, शास्त्रपाठ, वाह्यिक विधिनिषेध-पालनकर उपासना करना सुगम है, किन्तु अपने चिन्तनमें, अपने कर्ममें, परममानवकी उपलब्धि और स्वीकृति सबसे कठिन साधना है। इसीलिए कहा है, नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। वह सत्यको अन्तरमें नहीं पाते जो अन्तरमें दुर्बल हैं। अहंकारको दूर करना होता है, तभी अहंको पारकर आत्मा तक पहुँच सकता हूँ।

य आत्मा अपहतपाप्ना विजरो विमुत्युर्विशोकोहविजिघत् सोह-पिपासः सत्यकामः सत्यंसकल्पः सोहन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।

हमारे अन्दर जो महान आत्मा है, जो जरामृत्युशोकक्षुधातृष्णासे अतीत है, जो सत्यकाम है, सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना होगा, उसको जानना होगा ।

"मनेर मानुष मनेर माझे करो अन्वेषण ।" यही जो उसका सन्धान करना, उसको जानना है ; यह तो बाहर जानना, बाहर पाना नहीं है ; यह अपने अन्दर अपना होने द्वारा जानना, होने द्वारा पाना है ।

प्रज्ञानेनैनमाप्नूयात्—युक्ति तर्कके योगसे वाह्यज्ञानके विषयको जिस भाँति हम जानते हैं, यह तो उस भाँति जानना नहीं है, अन्तरमें होने द्वारा जानना है । जिस भाँति नदी प्रतिक्षण ही समुद्रसे समुद्रको पाती है । एक ओर वह छोटी नदी है और एक ओर वह वृहत् समुद्र है । वही होना उसके लिए सम्भव है, क्योंकि समुद्रके साथ उसका स्वाभाविक ऐक्य है । जीवधर्म मानो ऊँचे बाँधकी भाँति जन्तुओंकी चेतनाको घेरकर अटकाये हुए है । मनुष्यकी आत्मा जीव-धर्मके भीतर होकर केवल उसे पारकर चली है, आत्माके महासागरमें जा मिली है, उसी सागरके योगसे वह अपनेको जान पाई है । जिस भाँति नदी अपनेको उस समय पाती है जिस समय वह वृहत् जलराशिको अपना कर लेती है, नहीं तो वह बद्ध हो, पोखर हो, दलदल हो रहती है । इसीलिए बाउलने मनुष्यको कहा है, "उसीके भीतर अतल सागर है ।" पहले ही कह चुका हूँ, मनुष्य अपने व्यक्तिगत संस्कारके पार हो जिस ज्ञानको, जिसे विज्ञान कहते हैं, पाता है । वह ज्ञान निखिल मानवका है, उसे सारे मनुष्य ही स्वीकार करेंगे, इसी-लिए वह श्रद्धेय है । उसी भाँति मनुष्यके अन्दर स्वार्थगत मैं से जो बड़ा मैं है उसी मैं के साथ सबोंका ऐक्य है, उसका कर्म सबोंका कर्म है । अकेले-मैंका कर्म ही बन्धन है, सब-मैं का कर्म ही मुक्ति है ।

हमारे बंगाल देशके बाउलने कहा है—

मनेर मानुष मनेर माझे करो अन्वेषण ।
एकबार दिव्यचक्षु खुले गेले देखते पाबि सब ठांई ।

वह मनका मनुष्य सबोंके मनका मनुष्य है, अपने मनके अन्दर उसे देख पानेपर सबोंके अन्दर उसे पाया जाता है। यही बात उपनिषदने कही है, युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति। कहा है, तं वेद्यं पुरुषं वेद—जो वेदनीय है उसी पूर्ण मनुष्यको जानो ; अन्तरकी अपनी वेदनामें जिसे जाना जाता है उसे वही वेदना जानो, ज्ञानमें नहीं, बाहर नहीं।

हमारे शास्त्रोंमें सोहहम् कहकर जिस तत्वको स्वीकार किया गया है वह जितने बड़े अहंकारकी भाँति सुनाई देता है वैसा नहीं है। इसमें छोटेको बड़ा नहीं कहा गया है, इसमें सत्यको व्यापक कहा गया है। मेरा जो व्यक्तिगत मैं है, उसको विश्वगत मैं व्याप्त किये हुए है। सिरपर जटा धारण करनेसे, बदनपर राख मलनेसे, या मुखसे यह शब्द उच्चारण करनेसे सोहहम्-सत्यका प्रकाश करना हुआ, ऐसी बात जो सोचता है, वही अहंकृत है। जो मैं सबोंका है, वही मैं ही मेरा है, यह सत्य है, किन्तु इसी सत्यको अपना करना ही मनुष्यकी साधना है। मनुष्यके इतिहासमें चिरकालसे यह साधना ही नाना रूपों, नाना नामों और नाना संकल्पोंके अन्दर काम कर रही है। जो परम मैं है, जो सबोंका मैं है, उसी मैंको मेरा कह सबोंके अन्दर जानना जिस परिमाणमें हमारे जीवन, हमारे समाजमें उपलब्ध हो रहा है, उसी परिमाणमें हम सत्य मनुष्य हो रहे हैं। मनुष्यका रिपु बीचमें आ इसी सोहहम् उपलब्धिके दो भाग कर देता है, और अहम् एकान्त हो उठता है।

इसीलिए उपनिषद कहते हैं, मा गृधः—लोभ मत करो। लोभ विश्वके मनुष्यको भुलाकर वैषयिक मनुष्य बना देता है। जो भोग मनुष्यके योग्य है वह सबोंको लेकर है, वह विश्वभौमिक है, वह मनुष्यके साहित्यमें है, वह मनुष्यकी शिल्पकलामें है, वही मनुष्यकी संसारयात्रा में, उसके हृदयके आतिथ्यमें प्रकाश पाता है। इसीलिए हमारे शास्त्रोंमें कहा है, अतिथि देवो भव। क्योंकि हमारा भोग

सबोंका भोग है, यही बात अतिथिको लेकर गृहस्थ स्वीकार करता है; उसके ऐश्वर्यका संकोच दूर होता है। व्यक्तिगत मानवके घरमें अतिथि सर्वमानवका प्रतिनिधि होकर आता है, उसकी गृहसीमाको विश्वकी दिशामें ले जाता है। न ले जानेमें राजप्रासादके लिए भी दीनता है। इसी आतिथ्यके अन्दर है सोहहंतत्व—अर्थात्, मैं उनके साथ एक हूँ जो मुझसे बड़े हैं। मैं उनके साथ मिला हुआ हूँ जो मेरे हैं और मेरेसे अतिरिक्त हैं।

हमारे देशमें ऐसे बहुत सन्यासी हैं जो सोहहंमतत्वको अपने जीवन-निरतिशय, नैषकर्म्य और निर्ममता द्वारा अपने जीवनमें अनूदित करते हैं। वह जीव प्रकृतिका लंघन करनेके लिए देहको पीड़ा देते हैं, मानव प्रकृतिको अस्वीकार करनेकी चुनौतीमें मनुष्यके स्वाधीन दायित्वका त्याग करते हैं। वह उस अहंका वर्जन करते हैं जो अहं विषयमें आसक्त है, और उस आत्माको भी, जो आत्मा सब आत्माओंके साथ योगयुक्त है, अमान्य करते हैं। वे जिसे भूमा कहते हैं वह उपनिषद-उक्त वह ईश नहीं हैं जो सबोंको लिये हुए हैं; उनकी भूमा सब-कुछसे ही वर्जित है, सुतरां उनके बीच कर्मत्व नहीं है। वे उनको नहीं मानते जो पौरुषं नृषु हैं—मनुष्यके बीच जो मनुष्यत्व हैं, जो विश्वकर्मा महात्मा हैं, जिनका कर्म खण्ड कर्म नहीं है, जिनका कर्म विश्वकर्म है; जिनकी स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च—जिनके बीच ज्ञानशक्ति और कर्म स्वाभाविक है, जो स्वाभाविक ज्ञानशक्तिकर्म अन्तहीन देशकालमें प्रकाशमान है।

पहले ही कह चुका हूँ, मनुष्यकी अभिव्यक्तिकी गति अन्तरकी ओर है। इसी ओर उसकी सीमाके आवरणके खुल जानेका पथ है। एक समय मनुष्य बर्बर था, वह पशुकी तरह था, उस समय भौतिक जीवनकी सीमामें उसका मन, उसका कर्म बद्ध था। जिस समय धीशक्ति जल उठी उस समय चैतन्यकी रश्मि जीवनकी संकीर्ण सीमाको छोड़ विश्वभौमिकताकी ओर चली। भारतीय मध्ययुगके

कविस्मृतिभाण्डार सुहृद क्षितिमोहनके पाससे कवि रज्जबकी एक वाणी मुझे मिली है। उन्होंने कहा है—

सब साँच मिलै सो साँच है ना मिलै सो झूंठ ।
जन रज्जब साँची कही भावई रिझि भावई रूठ ।।

सब सत्यके साथ जो मिले वही सत्य है, जो नहीं मिलता वही मिथ्या है; रज्जब कहता है, यही बात असली है—इससे तुम खुश होओ या गुस्सा होओ।

भाषासे समझा जाता है, रज्जब समझे हैं, इस बातपर गुस्सा करनेवाले लोगोंकी ही समाजमें भरमार है। उनके मत और प्रथाके साथ विश्वसत्यका मेल नहीं होता, तब भी वे उसको सत्यका नाम देकर जटिलमें जड़ रखते हैं—न मिलनेके कारण ही यह लेकर उनकी उत्तेजना और उग्रता इतनी अधिक है। गुस्से द्वारा सत्यका प्रतिवाद अग्निशिखाको छुरीसे बेधनेकी चेष्टाके समान है। वह छुरी सत्यको नहीं मार सकती, मारती है मनुष्यको। तब उसी विभीषिकाके सामने खड़े होकर कहना होगा—

सब साँच मिले सो साँच है ना मिलै सो झूंठ।

एक समय जिस दिन किसी एक वैज्ञानिकने कहा कि पृथ्वी सूर्यके चारों ओर घूम रही है, उस दिन उसी एक मनुष्यने ही विश्व-मनुष्यकी बुद्धिका प्रकाश किया। उस दिन लाखों लोग उस बातसे क्रुद्ध हुए; उन्होंने भय दिखाकर ज़ोर डालकर कहलवाना चाहा, सूर्य ही पृथ्वीके चारों ओर घूमता है; उनकी संख्या जितनी भी अधिक क्यों न हो, उनके शरीरका ज़ोर जितना भी रहे, तब भी उन्होंने प्रज्ञाको जैसे ही अस्वीकार किया, चिरकालके मानवको अस्वीकार किया। उस दिन असंख्य विरुद्ध-वादियोंके बीच खड़े होकर कौन कह सकता था सोहहं, अर्थात् मेरा ज्ञान और मानवभूमाका ज्ञान एक है—उसने ही कहा था जिसको उस दिन विपुल जंनसंघके सत्यका प्रत्याख्यान करनेके लिए प्राणान्तिक पीड़न पहुँचाया गया था।

यदि लाख-लाख लोग कहें कि कोटि योजन दूर किसी विशेष गृहनक्षत्रोंके समवायमें पृथ्वीके किसी एक प्रदेशकी जलधारामें ऐसी अभौतिक जादूशक्तिका संचार होता है जिससे स्नानकारियों और उनके पूर्वपुरुषोंके आन्तरिक पाप धुल जाते हैं, तब कहना ही होगा—

सब साँच मिलै सो साँच है ना मिलै सो झूँठ।

विश्वकी बुद्धि इस बुद्धिके साथ नहीं मिली। किन्तु जहाँ कहा गया है, अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति—जलसे केवल देहका ही शोधन होता है, मनका शोधन सत्यसे होता है, वहाँ विश्व-मानवमनकी सम्पत्ति पायी जाती है। अथवा जहाँ कहा गया है—

कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते।
नैवं कुर्याम् पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः॥

पापकर सन्तप्त हो उसी सन्तापसे ही पापका मोचन होता है, 'ऐसा काम और नहीं करूँगा' कह निवृत्त होकर ही मनुष्य पवित्र हो सकता है—वहाँपर यह कहकर ही मनुष्य अपनी बुद्धिमें विश्वमनकी प्रज्ञाको स्वीकार करता है, तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशम्—उसी देवताको अपनी आत्माओंमें जानूँ जो आत्मबुद्धि प्रकाशक है। मेरा मन और विश्वमन एक ही है, यही बात सत्यसाधनाके मूलमें है, और भाषान्तरसे यह बात ही सोहहम् है।

एक दिन ब्राह्मण रामानन्दने अपने शिष्योंके पाससे चले जाकर नाभा चन्डालका, मुसलमान जुलाहे कबीरका, रविदास चमारका आलिंगन किया। उस दिनके समाजने उन्हें जातिच्युत किया। किन्तु वे अकेले ही उस दिन सबसे बड़ी जातिमें ऊँचे उठे थे जो-जाति निखिल मनुष्यकी है। उस दिन ब्राह्मणमण्डलीकी धिक्कारके बीच खड़े होकर रामानन्द ही ने कहा था सोहहम्; उसी सत्यकी ही शक्तिसे वे उसी क्षुद्र संस्कारगत घृणाको पार कर गये थे जो मनुष्य मनुष्यमें भेदकर समाजस्थितिके नाममें समाजधर्मके मूलपर आघात करती है।

एक दिन ईसा मसीहने कहा था, सोहहम्—मैं और मेरे परम-पिता एक ही हैं। क्योंकि उनकी जो प्रीति, जो कल्याणबुद्धि सब मनुष्योंके प्रति प्रसारित है, उसी प्रीतिके आलोक द्वारा ही अपनी अहं सीमाको छोड़ परममानवके साथ उन्होंने अपना अभेद दिखाया था।

बुद्धदेवने उपदेश दिया, समस्त जगत्के प्रति बाधाशून्य, हिंसाशून्य, शत्रुताशून्य मानसमें अपरिमाण मैत्री पोषण करो। खड़े बैठे चलते सोते यावत् बेसुध न होओ, इसी मैत्रीस्मृतिमें अधिष्टित रहो; इसे ही ब्रह्म-विहार कहते हैं।

इतना बड़ा उपदेश मनुष्यको ही दिया जा सकता है। क्योंकि मनुष्यके अन्दर सोहहंतत्व गम्भीर हो विद्यमान है। यह बात बुद्ध-देवनें अपने ही अन्दरसे जानी थी, इसीलिए कहा, "अपरिमाण प्रेममें ही अपने अन्दरके अपरिमेय सत्यको मनुष्य प्रकाशित करता है।"

अथर्ववेदमें कहा है, तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मति मन्यते—जो विद्वान हैं वे मनुष्यको उसके प्रत्यक्षके अतीत वृहत् होनेके कारण ही जानते हैं। इसीलिए वे उसके निकट दु:साध्य कर्म, अपरिमित त्यागकी प्रत्याशा कर सकते हैं। ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदू: परमे-ष्ठिनम्—जो भूमाको मनुष्यमें जानते हैं, वे परमदेवताको जानते हैं। उसी मानवदेवताको मनुष्यके बीच जाननेके कारण ही बुद्धदेव उपदेश दे सके थे—

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एक पुत्तमनुरक्खे,
एवम्पि सव्वभूतेसू मानसम्भावये अपरिमानं।

माँ जिस भाँति अपनी आयु क्षयकर भी अपने एकमात्र पुत्रकी रक्षा करती है उसी भाँति समस्त प्राणियोंके प्रति मनमें अपरिमाण दयाभाव जन्माओ।

सिर गिनकर नहीं कहूँगा कि कितने आदमी इस उपदेशका पालन कर सकते हैं। इस गणनामें सत्यका विचार नहीं है।

जिन्होंने मनुष्यकी असीमताको अपने अन्दर अनुभव किया था,

उन्हें सिर गिननेके लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। उन्होंने निःसंकोच मनुष्यके महामानवको आह्वानकर कहा था, "अपरिमित प्रेम द्वारा अपने अन्तरमें ब्रह्मका प्रकाश करो।" यही वाणी निःसंकोच सबोंको सुनाकर उन्होंने मनुष्यपर श्रद्धा की थी।

हमारे देशमें ऐसी आत्मावमाननाकी बात प्रायः सुनी जाती है कि, सोहहंतत्व सबोंके लिए नहीं है, केवल उन्हींके लिए है जो श्रेष्ठ-जन्मा हैं। यह कहकर मनुष्यके अधिकारको श्रेष्ठ और निकृष्ट भेदमें विभक्तकर निश्चेष्ट निकृष्टताको आराम दिया गया है। हमारे देशमें जिन्हें अन्त्यज कहते हैं वे जिस भाँति अपनी हेयताको निश्चल रखनेमें कुण्ठित नहीं होते, उसी भाँति इस देशमें अगण्य मनुष्य अपना कनिष्ठ अधिकार निःसंकोच मानकर मूढ़ताको, चित्त और व्यवहारकी दीनताको, विचित्र प्रकारसे प्रकाशित करनेमें बाधा नहीं पाते। किन्तु मनुष्य होकर हम जन्मे हैं, ललाटपर लिखाकर हम आये हैं सोहहम्, इसी वाणीको सार्थक करनेके लिए ही हम मनुष्य हैं। हमारे एक आदमीका अगौरव समस्त मनुष्योंके गौरवको क्षुन्न करेगा। जो अपने उस अधिकारको खर्व करता है वह अपने अन्दर उनका असम्मान करता है जो हैं कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी—जो सब कर्मके अध्यक्ष हैं, सबोंके जो अन्तरतम साक्षी हैं, सबोंके बीच जिनका वास है।

पहले ही दिखा चुका हूँ, अथर्ववेदमें कहा है, मनुष्य प्रत्यक्षतः जितना परमार्थ है उससे भी अधिक वह असीम उद्वृत्तके अन्दर है। उसी उद्वृत्तमें ही मनुष्यका जो-कुछ श्रेष्ठ है निहित है, उसका ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।

यह पृथ्वी स्थूल द्रव्यमयी है। उसका वायुमण्डल उसको बहुत दूर तक अतिक्रम कर गया है। उसी अदृश्य वायुलोक के भीतर उसका आलोक उसकी वर्णच्छटा आती है, उसका प्राण बहता है, इसके ऊपर ही उसके मेघ घिर रहे हैं, वारिधारा झर रही है, यहींकी प्रेरणा ही उसके अंग-अंगमें परम रहस्यमय सौन्दर्य-रूप धारण कर

रही है, यहींसे पृथ्वीपर श्रेष्ठ, पृथ्वीकी श्री, पृथ्वीका प्राण आ रहा है। इस वायुमण्डलमें ही पृथ्वीका वह जंगला खुला रह गया है, जहाँ नक्षत्रलोकसे अन्धकार पारकर प्रति रात्रि आत्मीयताकी ज्योतिर्मय वार्ता लेकर दूत आते हैं। उसके इसी प्रसारित वायुमण्डलको ही पृथ्वीके उद्वृत्त भागकी आत्मा कहा जा सकता है, जिस भाँति पूर्ण मनुष्यको कहा गया है, त्रिपादस्यामृतम्——उसका एक अंश प्रत्यक्ष है, बाकी तीन अंश अमृतरूपमें उसको छोड़कर उर्ध्वमें है। इस सूक्ष्म वायुलोक भूलोकको एकान्त अपना कहकर ही पृथ्वीके धूलिस्तरपर इतना विचित्र ऐश्वर्यविस्तार सम्भव हुआ है, जिसका मूल्य धूलिके मूल्यसे कहीं अधिक है।

उपनिषद कहते हैं, असम्भूति और सम्भूतिको एककर जाननेसे ही सत्य जाना जाता है। असम्भूति असीममें अव्यक्त है, सम्भूति देश-कालमें अभिव्यक्त है। इस असीमकी सीमामें मिलनेसे ही मनुष्यका सत्य सम्पूर्ण है। मनुष्यके बीच जो असीम है उसे सीमामें, जीवनमें, समाजमें व्यक्त करना होगा। असीम सत्यको वास्तविक सत्य करना होगा। उसे करनेके लिए कर्म चाहिए। ईशोपनिषदमें ऐसा ही कहा है, "सौ साल तुम्हें जीवित रहना होगा, कर्म न करके नहीं।" सौ वर्ष जीनेके लिए कर्ममें सार्थक करो, ऐसे कर्ममें जिसमें प्रत्ययके साथ, प्रमाणके साथ कहा जा सके सोहहम्। यह नहीं कि, आँखें पलटकर साँस बन्दकर मनुष्यसे दूर रहना होगा। असीम उद्वृत्तसे मनुष्यके अन्दर जो श्रेष्ठता संचारित होती है वह केवल ऋतं सत्यं नहीं है, उसके साथ है राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्मंच भूतं भविष्यत्। यह कर्म, यह श्रम, जीविकाके लिए नहीं है, यह निरन्तर उद्यम किसी सत्यके लिए है। किसके जोरसे मनुष्य प्राण को तुच्छ मानता है, दुःखको वरण करता है, अन्यायके दुर्दान्त प्रतापकी बिना उपकरण उपेक्षा करता है, अविचारके दुःसह मृत्युशूलको अपनी छातीपर लेता है? इसका कारण मनुष्यके अन्दर केवल उसका प्राण नहीं है, उसकी

महिमा भी है। समस्त प्राणियोंके अन्दर मनुष्य का ही सिर ऊँचाकर कहनेका अधिकार है, सोहहम्। यह अधिकार जातिवर्णके भेदभाव बिना समस्त मनुष्योंका है। क्षितिमोहनके अमूल्य संग्रहसे बाउलकी यह वाणी मुझे मिली है—

जीवे जीवे चाइया देखि सबइ जे तार अवतार,
ओ तुइ नूतन लीला की देखाबि जार नित्य लीला चमत्कार।

प्रतिदिन ही मानवसमाजमें यह लीला होती है। असंख्य मनुष्य ज्ञान, प्रेम, भोगमें नाना प्रकारसे अपरिमेयको प्रकाशित कर रहे हैं। इतिहासमें उनका नाम नहीं लिखा जाता, अपने प्राणसे मनुष्यके प्राण-प्रवाहमें वह जीवन-रस ढाल जाते हैं, उन्हींका अमीत तेज यश्चायस्मिन् तेजोमयोहमृतमयः पुरुषः सर्वानुभूः है—जो इस आत्माके ही अन्दर तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं, जो सब ही अनुभव करते हैं, जिस भाँति आकाशव्यापी तेजको उद्भिद अपने प्राणकी सामग्री बना पृथ्वीके प्राणलोकको उत्सर्ग करता है।

उद्भिदके भीतरसे विश्वतेज यदि प्राणवस्तुओंमें नियत और परिणत न हो पाता तो जीवलोक मरुशय्याशायीके समान होता, उसी तरह हमारे गोचर-अगोचर, देश-देश, काल-कालके नर-नारी अपने परम-पुरुषके अमिततेजको यदि कल्याण और प्रेम, ज्ञान और कर्ममें, निरन्तर समाजकी प्राणवस्तुओंमें परिणित न करते, तो समाज सोहहंतत्व-वर्जित हो पशुलोकके साथ एक हो जाता। यह ही नहीं अपने सत्यसे स्खलित हो जीवित ही नहीं रह पाता। डाक्टर कहते हैं, मनुष्यकी देहमें पशुरक्त देनेसे प्राणवृद्धि नहीं होती, प्राणनाश होता है। पशु-समाज पशुभावसे ही चिरदिन जीवित रह सकता है, मनुष्य समाज पशु होकर जीवित ही नहीं रह सकता। तार्किक कहेगा, नरलोकमें तो अनेक पशु आरामसे बढ़ते हैं। शरीरका फोड़ा भी तो बढ़ता है। आसपाससे उसकी उन्नत्ति अधिक है कम नहीं। समस्त देहमें स्वास्थ्यका गौरव उस फोड़ेको यदि छोड़कर नहीं जाता तब तो वह

मारता है और मारकर मरता है। प्रकृतिस्थ समाज अनेक पाप सह सकता है, किन्तु जब उसकी विकृति ही प्रधान हो उठती है, उस समय चिन्तन, व्यवहार, साहित्य, शिल्पकलामें पशुरक्तस्रोत आत्मस्थ कर समाज अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता। विलासोन्मत्त रोम क्या अपने ऐश्वर्यके बीच ही पके फलके कीड़ेकी भाँति नहीं मरा? कालिदासने रघुवंशमें पतनका जो चित्र दिया है, वह क्या मनुष्यके जीवनमें पशुप्रवेशका फल नहीं है?

अथर्ववेदमें केवल सत्य और ऋतकी ही बात नहीं है, राष्ट्रकी भी बात है। जनसंघके श्रेष्ठ रूपको प्रकाशित करनेके लिए उसका राष्ट्र है। छोटे गमलेके भीतर पौधा यदि अपनी हज़ार जड़ोंको न मिला पाये तो वह ठिगना होकर, पतला होकर रह जाता है। राष्ट्रकी प्रशस्त भूमि न पानेसे जनसमूह पौरुषवर्जित हो जाता है। अपने अन्दर समस्त जाति वृहत् जीवनयात्रामें जिस भूमाको प्रकाशित करनेका मनुष्यका दायित्व है, उससे वंचित हो इतिहास धिक्कृत होता है। सबोंके बीच सब कालोंके सामने उठकर खड़े हो वह नहीं कह सकता सोहहम्, नहीं कह सकता, "मैं अपनी महिमामें हूँ, मैं आजके दिनके लिए नहीं हूँ, मेरी आत्म-घोषणा भावीकालके तोरण-तोरणमें ध्वनित होती रहेगी।" इतिहासकी उसी बहुकालसे सुप्तिमग्न धिक्कारने एशिया महादेशके वक्षस्थलपर आज आघात किया है; सब ओर ही सुनता हूँ, जनगणके अन्तर्यामी महान पुरुषने तामसिकताकीबन्दी शालामें शृंखलाको झंकृत किया है, उसके प्रकाशकी तपोदीप्ति तमसः परस्तात् जल उठी है, रव उठा है, शृन्वन्तु विश्वे—सुनो विश्वजन, उसका आह्वान सुनो, जिस आह्वानसे भय छुट जाता है, स्वार्थ लज्जित होता है, मृत्युदुःखबन्धु अमृतके पथमें मृत्युंजय शृंगध्वनि कर उठते हैं।

भूमासे उत्शिष्ट जिस श्रेष्ठताकी बात अथर्ववेदने कही है वह किसी एक विशेष सिद्धिमें नहीं है। मनुष्यकी समस्त तपस्या ही उसके अन्दर है, मनुष्यका वीर्य लक्ष्मीर्बलं समस्त उसके अन्तर्गत है। मनु-

ष्यत्वको बहुधा वैचित्र्यके एक बिन्दुमें सहंतकर निश्चल करनेमें शायद आत्मविस्मरणका एक आनन्द है। किन्तु ततः किम्, उस आनन्दका क्या होगा? उस आनन्दको श्रेय नहीं कहूँगा, चरम सत्य नहीं कहूँगा। समस्त मानव संसारमें जबतक दुःख है, अभाव है, अपमान है, तबतक कोई एक भी मनुष्य निष्कृति नहीं पा सकता। अन्धकारमें एक प्रदीपके ज़रासे छिद्र करनेसे रात्रिका क्षय नहीं होता, समस्त अन्धकारके अवसारणसे ही रात्रिका अवसान होता है। इसीलिए मनुष्यकी मुक्तिकी जिन महापुरुषोंने कामनाकी है उन्हींकी वाणी है, "सम्भवामि युगे युगे।" वे युग-युगमें ही तो देश-देशमें जन्म लेते हैं। आज भी इसी मुहूर्तमें जन्मे हैं, कल भी जन्मेंगे। यही जन्मकी धारा इतिहासके अन्दर चल रही है, यही वाणी वहन करती है—सोहहम्। I and my father are one.

सोहहम् मन्त्र मुख से उच्चारणकर तुम कर्मसे छुट्टी लेनेकी दुराशा करते हो। समस्त पृथ्वी पड़ी हुई है, तुम अकेले दायित्व छोड़कर चले जाओगे। जो भीरु आँख मूँदकर सोचता है "भाग आया हूँ", वह क्या सत्य ही भागा है। सोहहम् समस्त मनुष्योंकी सम्मिलित अभिव्यक्तिका मन्त्र है, केवल एक आदमीका नहीं। व्यक्तिगत शक्तिसे स्वयं कोई जितना मुक्त हो रहा है, उसकी वह मुक्ति निरर्थक है, जबतक वह उसे सबोंको नहीं दे सकता। बुद्धदेव अपनी मुक्तिसे ही यदि सचमुच मुक्त होते, तो एक मनुष्यके लिए भी वह कुछ नहीं करते। दीर्घजीवन पर्यन्त उनके तो कर्मका अन्त नहीं था। दैहिक प्राण लिए यदि वह आजतक बचे रहते तो आज पर्यन्त ही उन्हें हमसे सबसे अधिक काम करना होता। क्योंकि, जो महात्मा हैं, वही विश्वकर्मा हैं।

नीहारिकाके महाक्षेत्रमें जहाँ ज्योतिष्ककी सृष्टि होती है वहाँपर कभी-कभी एक-एक तारा दिखाई देता है; यह तारा समस्त नीहारिकाके विराट अन्तरमें विद्यमान सृष्टिहोमहुताशनके उद्दीपनको स्पष्ट जना देता है। इसी तरह मनुष्यके इतिहास क्षेत्रमें कभी-कभी महापुरुषोंको देखता हूँ। उनसे यही बात समझता हूँ कि समस्त मनुष्योंके

अन्तरमें अभिव्यक्तिकी प्रेरणा और उस भूमाकी अभिव्यक्ति कामकर रही है। जीवमानव केवल अपने अहं-आवरणका मोचनकर विश्व-मानवमें अपनी उपलब्धि करता है। वस्तुतः वहींपर समस्त पृथ्वीकी अभिव्यक्ति अपने सत्यको खोजती है, इस विश्वपृथ्वीका चरम सत्य वही महामानव है। पृथ्वीके आरम्भकालसे लाख लाख युग बाद यही मनुष्यकी सूचना है। उसी सांख्यिक तथ्यको मनमें ले काल और आयतनके परिमाणमें मनुष्यकी क्षुद्रतापर विचारकर कोई कोई पण्डित अभिभूत हो उठते हैं। परिमाणको अपरिमेय सत्यसे बड़ा दिखाना एक मोहमात्र है। जिसको हम जड़ कहते हैं वही अव्यक्त प्राण बहु कोटि-कोटि वर्षतक सुप्त था। किन्तु, जिसदिन पृथ्वीपर एकमात्र प्राणकण दिखाई दिया उसी दिन जगत्की अभिव्यक्तिमें उसका एक महत् अर्थ आ पहुँचा। जड़की वाह्य सत्ताके अन्दर एक आन्तरिक सत्य दिखाई दिया—प्राण आन्तरिक। जिस हेतु वह प्राणकण जड़-पुंजकी तुलनामें अति क्षुद्र दिखाई देता है एवं जिस हेतु सुदीर्घकालके एक भागमें उसका सद्य जन्म हुआ है, इसलिए उसे कौन हेय करेगा। मूकताके बीच यह जो अर्थ मुक्त हुआ उसीके द्वारा मनुष्यने विराट प्राणका रूप देखा, कहा, यदिदं किंच सर्वं प्राण एजति निःसृतम्, जो कुछ समस्त ही प्राणसे निःसृत हो प्राणमें कम्पित हो रहा है। हम जड़को तथ्यरूपमें जानते हैं, क्योंकि वह बाहरका है। किन्तु, प्राणको सत्यरूपमें अपने अन्तरसे जानते हैं। प्राणकी क्रिया अन्तर अन्तरमें है—उसका सब कुछ ही गति है। वही चलनेकी एकमात्र भाषा हमारे लिए अव्यवहित है, वह हमारे प्राणकी भाषा है। चलना कर्मको मैंने अपने अन्दर ही अन्तरसे सत्यकर पहचाना है। विश्वमें अविश्राम चलनेमें जो उद्यम है उसे उत्ताप कहूँ, विद्युत कहूँ, वह केवल कहने भरकी बात है। यदि कहूँ, इस चलनेके अन्दर प्राण है, तब तो ऐसा कुछ कहा गया, मेरी अभिज्ञताके बीच जिसका कुछ अर्थ है। उसीके साथ यह भी समझता हूँ, मेरा प्राण जो चलता है वह भी इस विश्व-

प्राणके चलनेमें सम्मिलित है। प्राणगतिका यह उद्यम निखिलमें कहीं भी नहीं है, केवल आकस्मिक भावसे प्राणीमें है—ऐसी बेहूदा बात हमारा मन नहीं मानना चाहता, जो मन समग्रताकी भूमिकामें ही सत्यको श्रद्धा ज्ञापन करता है।

उपनिषदने कहा है, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दोन स्यात्। यदि प्राणका आनन्द आकाशमें न होता तो एक कीट भी किसके जोरपर रहनेकी इच्छा करता। यदि समस्त आकाशमें उसका सत्य व्याप्त न हो तो दियासलाईके मुँहपर एक लपट एक मुहूर्तके लिए किस तरह जलती है। प्राणके अन्दर ही समस्त सृष्टि का एक अन्तरतम अर्थ पाया गया, उस अर्थको मैं इच्छा कहूँगा। जड़ मूक था, इस इच्छाकी भाषाको नहीं जना सका, प्राणने आकर इच्छाकी वार्ताका प्रकाश किया। जो भाषा गभीरमें निहित थी, वही उच्छ्वासित हो उठी।

छात्रने बहु दिन बहु प्रयाससे अक्षर सीखे, हिज्जे सीखे, व्याकरण सीखा, अनेक कागजोंपर टेढ़ा-मेढ़ा असम्पूर्ण निरर्थक लिखना सीखा, उपकरण व्यवहार किए और विस्तर वर्जन किया; अन्तमें कविरूपमें जिस मुहूर्त वह अपनी पहली कविता लिख सका उसी मुहूर्तमें इस लेख-में इतने दिनके पुंज पुंज वाक्यहीन उपकरणोंका प्रथम अर्थ दिखाई दिया। जगतकी विपुल अभिव्यक्तिमें मैंने प्रथम अर्थ देखा प्राणकणमें, उसके बाद जन्तुमें, और उसके बाद मनुष्यमें। बाहरसे अन्तरकी दिशा-में एक-एककर मुक्तिका द्वार खोल जाने लगे। मनुष्यपर आकर जैसे ही ठहरा वैसे ही यवनिका उठते ही जीवको मैंने उसकी भूमामें देखा। देखा, रहस्यमय योगके तत्वको, परम एक्यको। मनुष्य कह सका, जो सत्यको जानते हैं वे हैं सर्वमेवाविशन्ति—सबोंके अन्दर ही प्रवेश करते हैं।

आलोकके समान ही मनुष्यका चैतन्य ज्ञान, कर्म, भावमें महा-विकीरणकी दिशामें चला है। उसी प्रसारणकी दिशामें ही मैं उसके

महत्‌को देखता हूँ, महामानवको देखता हूँ, देखता हूँ यश्चायस्मिन् आत्मनि तेजोमयोहमृतमयः पुरुषं सर्वानुभू; एवं शुभकामनामें हृदयको सर्वत्र यही कह व्याप्त कर सकता हूँ—

सब्वे सत्ता सुखिता, अवेरा होन्त, अव्यापज्झा होन्त, सुखी उत्तानं परिहरन्त। सब्वे सत्ता दुक्खापमुंचन्त। सब्वे सत्ता मा यथालब्ध-सम्पत्तितो विगच्छन्त।

समस्त जीव सुखी हों, निःशत्रु हों, अवध्य हों, सुखी हो काल-हरण करें। समस्त जीव दुःखसे मुक्त हों, समस्त जीव यथालब्ध सम्पत्तिसे वंचित न हों।

साथ-साथ यह कह सकता हूँ, दुःख आता है तो आये, मृत्यु होती है तो हो, क्षति घटे तो घटे—मनुष्य अपनी महिमासे वंचित न हो, समस्त देशकालको ध्वनित कर कह सकूं—सोहहम्।

परिशिष्ट

मानव-सत्य

हमारी तीन जन्मभूमि हैं, तीनों ही एक साथ जुड़ी हुई हैं। पहली पृथ्वी है। सर्वत्र ही पृथ्वीपर मनुष्यका वासस्थान है। शीतप्रधान तुषाराद्रि, उत्तप्त बालुकामय मरु, उत्तुंग दुर्गम गिरिश्रेणी और इस बंगला देशकी तरह समतलभूमिपर सर्वत्र ही मनुष्यका वास है। वस्तुतः मनुष्यका वासस्थान एक है। छिन्न-भिन्न जातियोंका नहीं, समग्र मनुष्य जातिका ही। मनुष्यके लिए पृथ्वीका कोई अंश दुर्गम नहीं है। पृथ्वीने उसके आगे अपना हृदय खोल दिया है।

मनुष्यका दूसरा वासस्थान स्मृतिलोक है। अतीतकालसे पूर्व-पुरुषोंकी कहानी लेकर उसने कालका नीड़ तैयार किया है। यह काल-का नीड़ स्मृति द्वारा रचित और ग्रथित है। यह केवल किसी एक विशेष जातिकी बात नहीं है, समस्त मनुष्यजातिकी बात है। स्मृति-लोकमें समस्त मनुष्योंका मिलन है। विश्वमानवका वासस्थान एक ओर पृथ्वी और—एक ओर समस्त मनुष्यका स्मृतिलोक है। मनुष्य समस्त पृथ्वीपर, निखिल इतिहासमें जन्मग्रहण करता है।

उसका तीसरा वासस्थान आत्मिक लोक है। उसे सर्व मानव-चित्तका महादेश कहा जा सकता है। अन्तर अन्तरमें समस्त मनुष्योंके योगके क्षेत्रमें यह चित्तलोक है। किसीका चित्त शायद संकीर्ण बाड़ेसे घिरे हुआ है, किसीका विकृति द्वारा विपरीत है। किन्तु एक व्यापक चित्त है जो व्यक्तिगत नहीं, विश्वगत है। उसका परिचय अकस्मात मिलता है। एक दिन आह्वान आता है। अकस्मात मनुष्य सत्यके लिए प्राण देनेके लिए उत्सुक हो उठता है। साधारण लोगोंके बीच भी देखा जाता है, जब वह स्वार्थ भूलता है, जहाँपर प्यार करता है, अपनी हानि कर बैठता है। उस समय समझमें आता है मनके अन्दर एक दिशा है जो सर्वमानवचित्तकी ओर है।

प्रयोजन विशेषसे घरकी सीमा खण्डाकाश बद्ध है। किन्तु, महाकाशके साथ उसके सत्यका योग है। व्यक्तिगत मनके अपनी विशेष प्रयोजनकी सीमामें संकीर्ण होते हुए भी सत्यका विस्तार सर्व मानव-चित्तमें है। वहाँका प्रकाश आश्चर्यजनक है। कोई एक आदमी पानी-में गिर गया है, और एक आदमी उसे बचानेके लिए, दूसरेकी प्राण-रक्षाके लिए अपने प्राणको संकटापन्नकर पानीमें कूद पड़ता है। अपनी सत्ता ही जिसके लिए एकान्त है वह कहेगा, अपने बचनेसे ही बापका नाम रहता है। किन्तु अपने बचनेको उसने सबसे बड़ा बचना नहीं कहा, ऐसा भी देखा गया। उसका कारण है, सर्वमानवसत्ता परस्पर योगयुक्त है।

मेरा जन्म जिस परिवारमें हुआ उस परिवारका धर्मसाधन एक विशेष प्रकारका है। उपनिषद एवं पितृदेवकी अभिज्ञता, राममोहन एवं और-और साधकोंकी साधना ही हमारी पारिवारिक साधना है। मैं अपने पिताका कनिष्ठ पुत्र हूँ। जातकर्मसे आरम्भकर मेरे सब संस्कार वैदिक मन्त्र द्वारा अनुष्ठित हुए, अवश्य ही ब्राह्ममतसे मिला-कर। मैं स्कूलसे भागनेवाला लड़का हूँ। जहाँ कहीं भी सीमाएँ थीं मैं कभी भी समझौता नहीं कर सका। जो आदत बाहरसे लादी जाती है, उसे ग्रहण करनेमें मैं अक्षम हूँ। किन्तु पितृदेवने कभी भी उसके लिए भर्त्सना नहीं करते। उन्होंने स्वयं ही स्वाधीनता अवलम्बन-कर पैतामहिक-संस्कार-त्याग किये थे। गभीरतर जीवनके सम्बन्धमें चिन्तन करनेका अधिकार मुझे भी था। यह बात स्वीकार करनी ही होगी, मेरे इस स्वातन्त्र्यके लिए कभी-कभी उन्हें वेदना भी हुई, किन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं।

बाल्यकालमें बार बार आवृत्ति द्वारा उपनिषदके अनेक अंश मुझे कण्ठस्थ थे। सारा मन देकर भी मैं सब-कुछ ग्रहण नहीं कर सका। श्रद्धा थी, शायद शक्ति न थी। ऐसे समयमें उपनयन हुआ। उप-नयनके समय गायत्री मन्त्र दिया गया। केवलमात्र मुखस्थभावसे

नहीं। बारम्बार सुस्पष्ट उच्चारणकर आवृत्तिकी है एवं पिताके समीप गायत्री-मन्त्रके ध्यानका अर्थ पाया है। उस समय मेरी उम्र बारह सालकी होगी। इस मन्त्रका चिन्तन करते करते भान होता, विश्वभुवनका अस्तित्व और मेरा अस्तित्व एकात्मक है। भूर्भुवः स्वः—यह भूलोक, अन्तरिक्ष, मैं उसीके साथ अखण्ड हूँ। इस विश्वब्रह्माण्डके आदि अन्तमें जो हैं वे मेरे मनमें चैतन्यकी प्रेरणा करते हैं। चैतन्य ओ विश्व; बाहर और अन्तर सृष्टि की यह दो धाराएँ एक धारामें मिल गई हैं।

इस प्रकार ध्यान द्वारा जिनकी उपलब्धि करता हूँ, वे विश्वात्मा और मेरी आत्मामें चैतन्यके योगसे युक्त हैं। इस तरहके चिन्तनके आनन्दने मनके अन्दर एक ज्योति जला दी। यह स्पष्ट मुझे याद पड़ता है।

जिस समय शायद अठारह उन्नीस सालकी उम्र थी अथवा बीस हो सकती है, उस समय मैं भाईके साथ चौरंगीपर रहता था। ऐसे भाई किसीको कभी नहीं मिले होंगे। वे एक ही साथ मित्र, भाई और सहयोगी सब-कुछ थे।

उस समय ब्राह्म मुहूर्तमें उठनेकी प्रथा थी। मेरे पिताजी भी खूब तड़के उठते थे। याद है, एक बार डलहौज़ी पहाड़पर पिताजीके साथ था। वहाँपर प्रचण्ड शीत पड़ता है। उसी शीतमें भोर बेला वे हाथमें रोशनी लिये हुए आकर मुझे शय्यासे उठा देते। उसी भोर वेलामें एक दिन मैं चौरंगीवाले मकानके बरान्देमें खड़ा हुआ था। उस समय वहाँ फ्री स्कूल नामका एक स्कूल था। रास्ता पारकर ही स्कूलका अहाता दिखाई देता था। उस ओर दृष्टि डालकर देखा, पेड़-की आड़में सूरज निकल रहा है। जैसे ही पेड़के अन्तरालसे सूरजका आविर्भाव हुआ वैसे ही मनका परदा खुल गया। भान हुआ कि मनुष्य आजन्म एक आवरणसे ढका रहता है। उसीमें उसका स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्यका बाड़ा लुप्त होनेपर सांसारिक प्रयोजनमें अनेक असुविधाएँ हैं। किन्तु उस दिन सूर्योदयके साथ साथ मेरा आवरण हट गया।

अनुभव हुआ कि सत्यको मुक्तदृष्टिसे देखा। मनुष्यकी अन्तरात्माको देखा। दो मज़दूर एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखे—हंसते हंसते चले जा रहे हैं। उनको देखकर लगा वे कितने अनिर्वचनीय सुन्दर हैं। यह ख्याल नहीं हुआ कि वह मज़दूर हैं। उस दिन उनकी अन्तरात्माको देखा, जिनमें चिरकालका मनुष्य वास करता है।

सुन्दर किसको कहूँ? बाहरसे जो अकिंचित्कर है, जिस समय उसके आन्तरिक अर्थको देखता हूँ, उस समय देखता हूँ सुन्दरको। एक गुलाबका फूल बछड़ेके निकट सुन्दर नहीं है। मनुष्यके निकट वह सुन्दर है, जिस मनुष्यके निकट केवल उसकी पंखुड़ीने नहीं, डंडीने नहीं, वरन् समग्रने एक सार्थकता पाई है। पबनाके ग्रामवासी कवि जिस समय प्रणयनीके मानभंजनके लिए 'एक रुपयेका आभूषण' लानेका प्रस्ताव करते हैं उस समय आभूषणका दाम बढ़ जाता है। इस आभूषण अथवा गुलाबका आन्तरिक अर्थ जिस समय देख पाता हूँ, उसी समय वह सुन्दर है। उस दिन इसीलिए आश्चर्यचकित होगया। देख सका, समस्त सृष्टि अपरूप है। मेरा एक मित्र था, वह सुबुद्धिके लिए विशेष प्रख्यात न था। उसकी सुबुद्धिका थोड़ा-सा परिचय दूँ। एक दिन उसने मुझसे पूछा था, "अच्छा, ईश्वरको देखा है?" मैंने कहा, "न, देखा तो नहीं।" उसने कहा, "मैंने देखा है।" मैंने पूछा, "कैसे?" उसने उत्तर दिया, "क्यों? यही जो आँखोंके सामने जगमग कर रहा है।" उसके आनेपर सोचता कि परेशान करने आया है। उस दिन वह भी अच्छा लगा। उसे स्वयं ही बुलाया। उस दिन ख़याल हुआ, उसकी निर्बुद्धि आकस्मिक है, वह उसका चरम और चिरन्तन सत्य नहीं है। उसको बुलाकर मैंने उस दिन आनन्द पाया। उस दिन वह "अमुक" नहीं था। मैं जिसके अन्तर्गत हूँ वह भी उसीके अन्तर्गत है। उस समय मनमें आया कि यही मुक्ति है। इसी अवस्था में चार दिन रहा। चार दिन जगत्को सत्यभावसे देखा। उसके बाद ज्योतिदाने कहा, "दार्जिलिंग चलो।" वहाँ जाकर पुनः परदा

पड़ गया। पुनः वही अकिंचनता, वही प्रात्यहिकता प्रकट हुई। किन्तु, उसके पहले कई दिन सबोंके बीच जिसको देखा गया उसके सम्बन्धमें आजतक और संशय नहीं रहा। वे वही अखण्ड मनुष्य हैं जो मनुष्यके भूत-भविष्यत्‌के अन्दर परिव्याप्त हैं, जो अरूप हैं, किन्तु सब मनुष्योंके रूपके बीच जिनका अन्तर्तम आविर्भाव है।

२

उस समय यही मेरे जीवनकी प्रथम अभिज्ञता थी जिसे कि आध्यात्मिक नाम दिया जा सकता है। ठीक उसी समय और उसके एकदम बाद जिस भावसे उसने मुझे आविष्ट किया था, उसकी स्पष्ट छवि उस समयकी मेरी कविताओं प्रभातसंगीतमें दिखाई देती है। उस समय स्वतः जिस भावने अपनेको प्रकाशित किया है वही प्रभातसंगीतमें व्यक्त हुआ है। परवर्ती कालमें चिन्तनकर लिखकर उसके ऊपर उतना निर्भर नहीं करा जाता था। शुरूसे बता देना अच्छा है, प्रभातसंगीतसे जो कविता मैंने सुनाई वह केवल उस समयकी छविको स्पष्ट दिखानेके लिए, कविताके हिसाबसे उसका मूल्य साधारण है। मेरे निकट उसका एकमात्र मूल्य यही है कि उस समय मेरे मनमें जो एक आनन्दका उच्छ्वास आया था वह इनमें व्यक्त हुआ है। उनका भाव असंलग्न है, भाषा कच्ची है, जैसे कि घिसट-घिसटकर बोलनेकी चेष्टा हो। किन्तु 'चेष्टा' कहना ठीक नहीं होगा, वस्तुतः चेष्टा नहीं उसमें अस्फुट-वाक मनने, बिना चेष्टा जिस तरह वह कर सका, भावको व्यक्त किया है; साहित्यके आदर्शसे विचार करनेपर वह स्थान पाने योग्य बिल्कुल ही नहीं है।

जो कविताएँ पढ़ूँगा वह तनिक कुण्ठितभावसे ही सुनाऊँगा, उत्साह-के साथ नहीं। प्रथम दिन ही जो लिखी थी, वही पहले पढ़ूँ। अवश्य, ठीक पहले दिन की ही लिखी है कि नहीं, मेरे लिए ज़ोर देकर कहना

मुश्किल है। रचनाकालके सम्बन्धमें मेरे ऊपर निर्भर रहनेसे नहीं चलता; मेरे काव्यके जो ऐतिहासिक हैं वह यह बात अच्छी तरह जानते हैं। हृदय जिस समय आश्चर्यजनक भावोच्छ्वाससे उद्वेलित हो उठा था, यह उस समय की लिखावट है। इसे इस समय की अभिज्ञता के साथ मिलाकर देखना होगा। मैं बता चुका हूँ हमारी एक दिशा अहं और एक दिशा आत्मा है। अहं मानो खण्डाकाश, घरके बीचका आकाश है, जिसे लेकर विषय कर्म, मामला मुक़दमा यही सब है। उस आकाशके साथ महाकाश युक्त है, उसे लेकर वैषयिकता नहीं है; वह आकाश असीम, विश्वव्यापी है। विश्वव्यापी आकाश और खण्डाकाशमें जो भेद है, अहं और आत्माके बीच भी वही भेद है। मानवत्व कहलानेवाला जो विराट पुरुष है, वही हमारे खण्डाकाशमें भी विद्यमान है—एक हमारेमें ही बद्ध, और एक सर्वत्र व्याप्त है। यह दोनों ही युक्त हैं, एवं इन्हीं दोनोंके मिलनेसे ही मेरी परिपूर्ण सत्ता है। इसीलिए कहा है, जिस समय हम अहंको एकान्तभावसे जकड़े रहते हैं; उस समय हम मानवधर्मसे विच्युत हो जाते हैं। वही महामानव, वही विराट पुरुष जो हमारे अन्दर विराजमान है, उनसे उस समय विच्छेद घटता है।

जागिया देखिनु आमि, आँधारे रयेछि आँधा,
आपनारि माझे आमि आपनि रयेछि बाधा।
रयेछि मगन हये आपनारि कलस्वरे,
फिरे आसे प्रतिध्वनि निजेरि श्रवण-परे।

यही है अहं, अपनेमें आबद्ध, असीमसे विच्युत हो, अन्ध हो अन्धकारके बीच रहता है। उसीके बीच था, मैंने यह अनुभव किया। वह मानो एक स्वप्नदशा है।

गभीर-गभीर गुहा, गभीर आँधार घोर,
गभीर घूमन्त प्राण एकेला गाहिछे गान,
मिशिछे स्वपनगीति विजन हृदय मोर।

निद्राके बीच स्वप्नकी जो लीला है, उसके साथ सत्यका योग नहीं है। उसको अमूलक, मिथ्या, नाना नाम देता हूँ। जो जीवन अहंके बीच सीमाबद्ध है वह मिथ्या है। नाना अतिकृति दुःख क्षति सब उससे जुड़ी है। अहं जिस समय जाग उठकर आत्माकी उपलब्धि करता है उस समय वह नवजीवन लाभ करता है। एक समय मैं उसी अहंके खेलाघरके बीच बन्दी था। इस तरह अपने निकट अपने ही प्राणको लेकर था, वृहत् सत्यका रूप नहीं देखा था।

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पाशिलो प्राणेर पर
केमने पाशिलो गुहार आँधारे
प्रभात पाखीर गान !
ना जानि केनो एत दिन परे
जागिया उठिलो प्राण !
जागिया उठेछे प्राण,
ओरे उखलि उठेछे बारि,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारी।

यह है उस दिनकी बात जिस दिन बाहरके असीममें अन्धकारसे आलोक आया। उस दिन चेतनाने अपनेको छोड़ भूमाके बीच प्रवेश किया। उस दिन काराका द्वार खोलकर बाहर निकलनेके लिए जीवनकी समस्त लीलाके साथ योगयुक्त हो प्रवाहित होनेके लिए, अन्तरके बीच एक तीव्र व्याकुलता अनुभव हुई। उस प्रवाहकी गति महान विराट समुद्रकी ओर है। वह जो महामानव है उसीके बीच जाकर यह नदी मिलेगी, किन्तु सबोंके बीच होकर। यह जो पुकार हुई, सूर्यके आलोकसे जागकर मन व्याकुल हो उठा, यह आह्वान कहाँसे था ? इसका आकर्षण समस्त मानवोंके भीतर से, संसारके

भीतर हो, भोग त्याग कुछ भी अस्वीकार नहीं कर, महासमुद्रकी दिशामें है ; समस्त स्पर्श लेकर अन्तमें एक जगह पड़ता है जहाँ—

की जानि की हलो आजि, जागिया उठिलो प्राण,
दूर हते शुनि जेनो महासागरेर गान ।
सेई सागरे पाने हृदय छूटिते चाय—
तारि पदप्रान्ते गिये जीवन टूटिते चाय ।

वहाँपर जानेकी एक व्याकुलता अन्तरमें जगी थी । मानवधर्मके सम्बन्धमें जो वक्तृता मैंने दी है, संक्षेपमें यही उसकी भूमिका है। इस महासमुद्रको इस समय मैंने महामानव नाम दिया है। समस्त मनुष्योंके भूत भविष्यत् वर्तमानको लेकर वे सर्वजनोंके हृदयमें प्रतिष्ठित हैं । उनके साथ जाकर मिलनेकी ही यह पुकार है।

इसके दो-चार दिन बाद ही 'प्रभात-उत्सव' लिखा । एक ही बातको, तनिक और स्पष्टकर लिखा—

हृदय आजि मोर केमने गेलो खूलि ।
जगत् आमि सेथा करिछे कोलाकूलि ।
धाराय आछे जत मानुष शत शत
आसिछे प्राण मोर, आसिछे गलागलि ।

यह समस्त ही तो मनुष्यके हृदयकी तरंगलीला है। मनुष्यके अन्दर स्नेह-प्रेम-भक्तिका जो सम्बन्ध है वह तो है ही। उसको विशेषकर देखना, बड़ी भूमिकाके बीच देखना, जिसके बीच वह उनका एक ऐक्य है, एक तात्पर्य लाभ करता है । उस दिन जो दो मजदूरोंकी बात कही है, उनके बीच जो आनन्द देखा वह सौख्यका आनन्द था, अर्थात् ऐसा-कुछ जिसका उत्स सार्वभौम सर्वकालीन चित्तकी गहराईमें है । उसे देखकर खुश हुआ था । और भी खुशी हुई थी इसलिए कि उनके भीतर जो आनन्द देखा वह अक्सर नही दिखाई देता, क्योंकि उनको अकिंचितकर ही देखता आया हूँ । जिस-मुहूर्त में उनके बीच विश्वव्यापी प्रकाश देखा उसी मुहूर्त सौन्दर्यको अनु-

भव किया। मानव सम्वन्धकी जो विचित्र रसलीला, आनन्द, अनिर्वचनीयता है, वह उसी दिन देखी। वह देखना बालककी कच्ची लिखावटकी भाँति टेढ़ा-मेढ़ाकर अपनेको प्रकाशित करता है, प्रस्फुटित नहीं हुआ है। उस समय आभास रूपमें जो अनुभव किया वही लिखा। मैंने मन-मरज़ी गाया, ऐसा नहीं है। यह गान दुदण्डका नहीं है, इसका अवसान नहीं है। इसकी एक धारावाहिकता है, मनुष्यके हृदय-हृदयमें इसकी अनुवृति है। गान रुकनेपर भी वह योग छिन्न नहीं होता।

काल गान फुराइबे, ता बले गाबे ना केनो,
आज जबे हयेछे प्रभात।
किसेर हरष - कोलाहल,
शुधाइ तोदेर, तोरा बल् !
आनन्द माझारे सब उठितेछे भेसे भेसे,
आनन्द हतेछे कभू लीन,
चाहिया धरणी-पाने नव आनन्देर गाने
मने पड़े आर एक दिन।

यह जो विराट आनन्दके बीच तरंगित हो रहा है वह बहुत दिन नहीं देखा, उस दिन देखा। मनुष्यके विचित्र सम्बन्धके बीच एक आनन्द का रस है। सबोंके बीच यह जो आनन्दका रस है, उसे लेकर महारसका प्रकाश है। रसो वै सः। रसके खण्ड-खण्ड प्रकाशके बीच उसे पाया गया था। उसी अनुभूतिके प्रकाशके लिए आकुल हो उठा था, किन्तु अच्छी तरह प्रकाशित नहीं कर सका। जो कुछ कहा असम्पूर्ण भावसे ही कहा।

प्रभात संगीतके अन्तकी कविता—

आज आमि कथा कहिबो ना।
आर आमि गान गाहिबो ना।

हेरो आजि भोरबेला ऐसेछे रे मेला लोक,
फिरे आछे चारि दिके,
चेये आछे अनिमिखे,
हेरे मोर हसिमुखे भूले गेछे दुःख शोक ।
आज आमि गान गाहिबो ना ।

इससे समझा जा सकता है, मन उस समय किस भावसे आविष्ट हुआ था, किस सत्यका मनने स्पर्श किया था । जो-कुछ हो रहा है उसी महामानवमें मिल रहा है, पुनः वहाँसे प्रतिध्वनिरूपमें, नाना रसमें सौन्दर्यमण्डित हो फिर भी आ रहा है । यह उपलब्धि हुई थी अनुभूति रूपमें, तत्त्व रूपमें नहीं । उस समय बालकका मन इस अनुभूति द्वारा जिस भावसे आनन्दित हुआ था, उसीका असम्पूर्ण प्रकाश प्रभात संगीतके अन्दर है । उस दिन ऑक्सफोर्डमें जो कहा था, वह चिन्तन करके बोला था । अनुभूतिसे उद्धारकर अन्य तत्वके साथ मिलाकर युक्तिके ऊपर खड़ाकर वह कहना था । किन्तु उसका आरम्भ यहाँ पर था । उस समय स्पष्ट देखा था, जगत्की तुच्छताका आवरण खिसककर सत्य अपरूप सौन्दर्य दिखाई दिया था। उसके अन्दर तर्क करनेका कुछ नहीं है, उसी देखनेका उस समय सत्यरूप जाना था । अभी भी आकांक्षा है, शायद समस्त विश्वके आनन्द रूपको किसी एक शुभ मुहूर्तमें पुनः उसी तरह परिपूर्णता भावसे कभी देख सकूँ । यही जो बाल्यावस्थामें सुस्पष्ट देखा था, इसीलिए 'आनन्दरूपममृतं यदविभाति' उपनिषदकी यह वाणी मेरे मुखसे बार-बार ध्वनित हुई है । उस दिन देखा था, विश्व स्थूल नहीं है, विश्व ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें रसस्पर्श नहीं है । जिसे प्रत्यक्ष देख चुका हूँ उसको लेकर तर्क क्यों ? स्थूल आवरण की मृत्यु है, अन्तरतम आनन्दमय जो सत्ता है उसकी मृत्यु नहीं है ।

३

वर्षाके समय नहर जलसे पूरी रहती। सूखे दिन लोग उसके ऊपर हो जाते। इस पार एक बाज़ार था, वहाँ विचित्र जनता रहती थी। दोमंजिले घरसे लोगोंकी लीला देखनेमें अच्छी लगती। पद्मामें मेरी जीवनयात्रा जनतासे दूर थी। नदीके चर, असीम बालू-राशि, स्थान-स्थानपर जलकुण्ड जलचर पक्षियोंसे घिरे रहते थे। उस समय जो—सब छोटी कहानियाँ लिखी हैं उन सबमें पद्मातीरका आभास है। जिस समय साजादपुर आता ग्राम्य जीवनका चित्र, गाँवोंका विचित्र कर्मोद्यम आखोंके सामने आता। उसीका प्रकाश 'पोस्ट मास्टर', 'समाप्ति', 'छुट्टी', प्रभृति कहानियोंमें है। उनमें जनताके खण्ड-खण्ड चलते दृश्य कल्पना द्वारा भरे गये हैं।

उस समयके एक दिनकी बात याद है। छोटी पुरानी नहरमें पानी आ गया है। कीचड़के भीतर डोंगिया आधी डूबी हुई थीं, पानी आनेसे वह ऊपर तैरने लगतीं। लड़के नूतन जलधाराकी आवाज़ सुनकर मस्त हो उठते। वह दिन भर ही दस बार पानीमें कूद लगाते।

दो मंजिलकी खिड़कीपर खड़े हो उस दिन सामने आकाशमें नववर्षाके जलभारनत मेघों, नीचे लड़कोंके अन्दर प्राणका तरंगित कल्लोल देखा था। मेरा मन सहसा अपने खुले द्वारसे बाहर सुदूर निकल गया। अत्यन्त निविड़ भावसे मेरे अन्तरमें एक अनुभूति आई; सामने नित्यकालव्यापी एक सर्वानुभूतिकी अनवछिन्न धारा और नाना प्राणोंकी विचित्र लीलाको मिलाकर एक अखण्ड लीला देख पाया। अपने जीवनमें जो बोध करता हूँ, जो भोग कर रहा हूँ, चारों ओर घर-घरमें जन-जनमें मुहूर्त-मुहूर्तमें जो-कुछ उपलब्धि हो रही है, समस्त एक विराट अभिज्ञताके अन्दर एक हुई है। नाना नटोंको लेकर

नाना खण्ड प्रकाश चल रहा है, किन्तु सबोंके भीतर एक नाट्यरस प्रकाश पा रहा है, जो कि परम दृष्टाके बीच सर्वानुभूः है ।

इतने समय तक अपने जीवनमें सुख-दुःखकी जिस अनुभूतिने एकान्तभावसे मुझे विचलित किया है, उसे मैं दृष्टारूपमें एक नित्य-साक्षीके पास खड़े होकर देख पाया हूँ।

इस तरह अपनेसे विविक्त हो समग्रके बीच खण्डको स्थापन करते ही अपने अस्तित्वका भाव लाघव हो गया। उस समय जीवन-लीलाको किसी रसिकके साथ एक होकर रसरूपमें देखा गया । मेरा उस दिनका यह बोध अपने निकट गभीर भावसे आश्चर्यचकित हो ठहर गया ।

एक मुक्तिका आनन्द मिला । स्नानघर जानेके रास्तेमें एक बार अवसर-यापनके कौतुकमें एक क्षण खड़ा हुआ था । वही क्षण एक मुहूर्तमें मेरे सामने वृहत् हो उठा । उस समय आँखोंसे पानी पड़ रहा है ; इच्छा करती है, सम्पूर्ण आत्मनिवेदनकर भूमिष्ट हो किसीको प्रणाम करूँ । वे मेरे परम संगी कौन हैं जो मेरे समस्त क्षणिकको नित्य ही ग्रहण करते हैं । उसी समय ख्याल हुआ, मेरा एक दिशासे बाहर आकर और—एक दिशाका परिचय पाया गया । ऐषोहष्य परम आनन्दः, मेरे अन्दर यह एवं वह—यही जिस समय वही उस—की ओर आकर खड़ा होता है, उस समय उसका आनन्द है।

उस दिन हठात् अत्यन्त निकटसे जान पाया कि अपनी सत्ताके अन्दर उपलब्धिकी दो दिशाएँ हैं । एक जिसे कहता हूँ मैं ; और उसीके साथ जुड़ा मिला जो कुछ है, जैसे कि मेरा संसार, मेरा देश, मेरा धनजनमान, यही जिसको लेकर यह सब झक-झक, किच-किच फिक्र-परेशानी है । किन्तु परम पुरुष उस समस्तपर ही अधिकार और समस्तका ही अतिक्रमण किये हुए हैं, जिस भाँति नाटकके सृष्टा और दृष्टा नाटकके समस्तको लिये हुए एवं उसके पार हैं । सत्ताकी इन दोनों दिशाओंको सब समय मिलाकर अनुभव नहीं कर पाता।